



# अणुव्रत-दर्शन



मुनिश्री नथमलजी



प्रकाशक

अणुव्रतसमिति

३, पोचुगीज चर्च स्ट्रीट, वल्लभता १

प्रकाशक  
शुभकर गुराना ( साहित्य म श्री  
अणुव्रत समिति  
३१ पोर्चुगीज चष स्ट्रीट, फडमत्ता १

नवम अणुव्रत सम्मेलन सरदारसहृ के अरमर पर  
दिनांक १० अक्टूबर, १९५६  
प्रथम मस्करण ० ००  
मूल्य ॥)

मुद्रक  
धन्नालाल धरडिया  
रेफिल आर्ट प्रेस,  
( आदध साहित्य सष द्वारा धपालित )  
३१ यडतल्ला स्ट्रीट, फलमत्ता

## भूमिका

पन दानों विरत-मुक्तों की धपकती-ज्वाला में करोड़ों इंसानों की मुल्मनी जिन्दगी की करण कहानी और नर-रक्त से खोनी जानेवाली दुःख होता क मीले खीटे इतिहास के पृष्ठों पर अभी तक उभरे हुए हैं। उनकी स्मृतियाँ आज भी उमों की खों साज्जा बनी हुई हैं। यह सब हुआ और सबने देखा भी परन्तु प्रश्न आज तक उपस्थित है—आखिर यह सब क्यों हुआ ? केवल सभार में शान्ति स्थापित करने के लिये दुनिया में भयानक खून खाने के लिये । किन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये मानव इत्या के जो क्रूर साधन प्रयोग में लाये गये उ-होंने सिद्ध कर दिखाया कि युद्ध और हिंसा से वास्तविक शान्ति की स्थापना असम्भव है। भग यह सोचने का विदस होना पड़ता है कि हम हिंसा-अहिंसा व युद्ध मैत्री आदि में से कौन सा माग अपनाएँ, किस रास्त पर चलें ? ऐसी परिस्थिति में जबकि अणु और परमाणु बमों की चकाचौंध में अन्धा होकर आज का मानव निरन्तर विनाश के बीज बो रहा है, अणुबम सघमस ही एक दिव्य आलोक और युग की माँग-सा दृष्टिगोचर होगा है।

आज सबसे बड़ी कठिनाई हम बात की है कि इस घनाध्दी में हर कोई हमरों को उपदग देने के लिये उठ खड़ा होगा है, स्वयं अपने आपको देखने और आत्म निरीक्षण का कष्ट ही नहीं उठाना। पिछले महायुद्ध के समय जब मैं कराची में था तो मेरे सान करीब बच्चेने मुझसे कई प्रश्न किये कि एनाईक विमान और हमरे विमान में क्या अन्तर है, हिटलर किस तरह अपनी शीप्रता से हमरे देगों को अपने शासन में ला रहा है ? उन दिना

समाचारपत्रों में प्रति दिन युद्ध से सम्बन्धित देशों के नक़्शे दिये जाते थे। मैंने भी एक मूख पिता के समान इन प्रश्नों का उत्तर न देते हुए उसे टालने के वास्ते नक्शों में दिखाये गये देशों को अलग अलग काटकर उसे दे दिया ताकि वह उसे पुन जोड़कर ले जाये और इस तरह मुझे उसकी इस विचित्र जिज्ञासा को पूरा करने से छुट्टी मिले। परन्तु उस समय मेरे आश्चर्य की सीमा न रही जब देखा कि वह एक ही मिनट में सारा नक्शा जोड़कर ले आया। चकित होकर मैंने उससे पूछा कि इतनी शीघ्रता से उसने यह सब कैसे कर लिया है ? उसका जो उत्तर था वह मुझे शिशाग्रद प्रतीत हुआ। समाचारपत्र के जिस पृष्ठ से मैंने उसे वह नक्शा काटकर दिया था उसके पीछे के विज्ञापन में एक मनुष्य का चित्र था। वह कहने लगा—मैंने तो केवल मनुष्य को ठीक किया है और आपका सारा ससार स्वयं ठीक हो गया है।

आज के अणुयुग में यही उपाय चाहिये। यदि एक प्राणी समय से अपने आपको ठीक करता है तो समस्त ससार स्वयं ठीक हो जाता है। हम व्यय ही जन-समूह के जीवन-संशोधन के उपदेश बखानते हैं। यदि एक करके हम केवल अपने आपको 'अणुजनों' के अनुसार चलाने का प्रयत्न करें तो ससार का कल्याण स्वयं हो जाय। सुनिधो नयमलजी ने आकार में छोटी परन्तु जीवन-सुधार के कार्य में बहुत बड़ी पुस्तक 'अणुजन-दर्शन' लिखकर मानव जाति पर बड़ा उपकार किया है। यदि हम इन नियमों पर चलकर अपने को अहिंसात्मक रूपसे पूरतया अणुजनी बना लें तो उनका यह परिश्रम सफल होगा और हम भी ससार में शान्ति के प्रसार में हाथ बग सजेंगे।

अणुजन समिति को इस बहुमूल्य कार्य के लिये बधाई देना है कि उसने अणुजन प्रचार के इस कार्य भार को अपने ऊपर लेकर ससार की एक बहुत बड़ी आवश्यकता का पूरा किया है।

रत्नकृता विश्वविद्यालय

—(प्रो०) हीरालाल चौधड़ा

## अनुक्रम

क्रमशः	विषय	पृष्ठ
१—	इच्छा-परिमाण या परिग्रह का सीमाकरण	१
२—	व्यवस्था-सुधार में वृत्ति सुधार की अपेक्षा	८
३—	निर्माण की दिशा में श्रमों का महत्त्व	१९
४—	व्यक्तिवाद और समष्टिवाद	२७
५—	अशुश्रूषी समाज व्यवस्था	३३
६—	अन्तर के आशोक में हमारी जीवन दिशा	३८
७—	अन प्रतिरोधात्मक शक्ति की साधना	४२
८—	अनन्य मानन्द का सन्तुष्ट प्रवाही स्रोत	४७
९—	अन नहीं श्रमी का व्यवहार दीखना है ।	५०
१०—	अमिक विकास का प्रथम योगदान	५७
११—	अदायगी नहीं श्रमी की भावनाएँ गुप्त हैं ।	६३
१२—	आर्थिक योक्त से अनैतिकता की ओर	७०

- व्यक्तिगत सुधार हृदय परिवर्तन-भूटक होता है इसलिये वह स्थायी, स्वतंत्र और आत्मिक होता है। समष्टिगत सुधार बलात्कृत होता है, इसलिये वह अस्थायी परतंत्र और अनात्मिक होता है।
- समय प्रधान समाज अजेय होता है। उसे कोई परास्त नहीं कर सकता। समय से आत्म-बल का विकास होता है। उससे अन्याय के प्रति असहयोग की शक्ति उत्पन्न होती है।
- अहिंसा सत्य और अपरिग्रह की भित्ति पर अवस्थित समाज चिर-समृद्ध और चिर सुखी रह सकता है। उसे अपने नैतिक पतन का कभी सन्देह नहीं होता।

—आचार्यश्री तुलसी

## इच्छा-परिमाण या परिग्रह का सीमाकरण

जीवन की आवश्यकताओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती फिर भी यह मंच है कि वे साध्य नहीं हैं। वे केवल जीवन धारण की साधनमात्र हैं। जीवन का साध्य है—उमड़ी पवित्रता या जीवन चलान के लिए नहीं किन्तु उसे कचमुखी और विराट् बनाने के लिए है।

आवश्यकता की पूर्ण पवित्रता का साधन नहीं है वह भूमिका बन सकती है। आवश्यकता पूरी न हो वह विषम परिस्थिति है। इससे मनुष्य क्रूर बनता है। आवश्यकता-पूर्ण के साधन अति अधिक हों यह भी विषम परिस्थिति है। इससे भी मनुष्य विन्यासी बनता है। सम परिस्थिति वह हो सकती है, जिसमें भ्रम करनेवाला आवश्यकता पूरी नियो बिना न रहे और भ्रम न करनेवाला अधिक न पाये। क्रूरता और विन्यास, ये दोनों ही चरित्र विकास के बाधक हैं। सम परिस्थिति उन्हें बढ़ने के लिये उत्ताजित नहीं करती। इसलिए वह चरित्र विकास की थोड़ा भूमिका बूझ सकती है साधन नहीं। सम परिस्थिति में भा क्रूरता और विन्यास का भन्त नहीं होता, किन्तु विषम स्थिति से इन्हें जो सामूहिक उत्तेजना



मिलनी है वह सम स्थिति से नहीं मिलनी । इसलिए उस चरित्र विकास की योग्य भूमिका बड़ा जा सकता है । पहला प्रश्न है—कम स्थिति बने कैसे ? मनुष्य में मोह होना है दुर्बलताएँ होती हैं इसलिए वह सबसे अधिक बड़ा बनना चाहता है बिना धर्म किये सबसे अधिक सुविधाएँ तो सर्वाधिक सुलभ ही और धर्म भी करना न पड़े, उस स्थिति का नाम है—वृष्पद । इस वृष्पद का अपना दोष है—विलास जो हमरां में मूरत पैदा करना है ।

मनुष्यमात्र में बुद्धि का तारतम्य होना है और भाव्य का भी, युग की भाषा में अवसर का भी । बुद्धि और भाव्य दोनों के सुमेल से धर्म किए बिना अधिक सुविधायें पाने का प्रयत्न किया जाता है और वह सफल भी होता है । किंतु इसका सुफल नहीं होता ।

अधिक बुद्धि और भाव्य या अवसर मिले वह व्यक्ति का उत्कृष्ट है पर उसे उसका दुरुपयोग नहीं करना चाहिए । हमरां की अभ्यस्तता और हर्माग्यता में मनुष्यिक लाभ उठाने की बात नहीं साधनी चाहिए ।

### मयम का मार्ग

सम स्थिति के लिए समाजवाद का सूत्र है—एसी परिस्थिति उत्पन्न की जाय जिसमें कोई किसी का शोषण न कर सके । इसके अनुसार बुराई और भलाई का मूठ सात परिस्थिति ही है, व्यक्ति नहीं । वह परिस्थिति का दास बनकर उमी के जैसा रूप किये चले चलना है । बग भेद की स्थिति में शोषण हुए बिना नहीं रहता । सम्पत्तिशाली बग अकिंचन बग पर मनमानी करता है और उसे विवश होकर सारी स्थितियाँ मढ़नी पड़नी हैं । सहने की स्थिति चरम बिन्दु पर पहुँचनी है तब सपन झिझना है

और वह बगहीन समाज न बने तब तक चलता ही रहता है। इसलिए  
सम स्थिति का निर्विकल्प समाधान है—बगहीन समाज की रचना।

अगुप्तन आन्दोलन का प्रवाह आध्यात्मिक है। वह व्यक्ति को परिस्थिति  
का सटा मानता है और विनेता भी। इसके अनुसार अन्दाइ और घुराई  
का कारण परिस्थिति ही है—यह एकात्मवाद मिय्या है। व्यक्ति स्वभाव  
से भला ही है यह एकात्मवाद भी मिय्या है और वह स्वभाव से घुरा ही  
है यह एकात्मवाद भी मिय्या ही है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी बुद्धि  
की मात्रा तक भग्न होता है और विह्वल की मात्रा तक घुरा। परिस्थिति  
उसकी भग्न ( स्वगुण ) और घुरा ( विगुण ) का निमित्त बनती है।

जीवन की दो धाराएँ हैं—आश्रयकृता और पवित्रता। आवश्यक  
कृता बाहरी स्थिति पर निर्भर है और पवित्रता आन्तरिक स्थिति पर।  
यह सच है श्रम और भोग के सामान्य सन्तुलन के बिना सम स्थिति नहीं  
बन सकती। जब आन्तरिक स्थिति सम नहीं होती, तभी बाह्य स्थिति  
विषम बन जाती है। एक बुद्धिमान व्यक्ति दूसरों का शोषण कर सकता  
है पर करता नहीं—यह उसकी आन्तरिक स्थिति की समता है। पर कम  
या भाग्य के नियम निर्दिष्ट ही नहीं होते कि साम्यशाली को अधिक  
समृद्ध और विलास करना ही पड़े। जब स्वयं का असम और परिस्थिति  
की अनुकूलता मिल जाती है तब वह वैसा कर बैठता है। समय का माग  
है—प्रत्येक व्यक्ति बुद्धि और भाग्य का तालमेल होने पर भी सम और  
विलास से बचकर पड़े। समय का मागें अकिंचन हैं इसलिए बाहरी स्थिति  
का व प्रत्युत्तरा सम नहीं बनाते किन्तु अशोषण, अगृह और अनासक्ति  
सम का सहज स्वयं है, इसलिए उसके होते स्थिति विषम बन नहीं सकती।



न चाहे। इसलिए वह सबको एक रूप बनने के लिए भाध्य कर सकती है और इसीलिए वैषम्य का अन्त चाहनेवाले जन क्रान्ति या रक्त क्रान्ति में विश्वास करते हैं।

### सामाजिक और वैयक्तिक

सामाजिक जीवन सुविधा देता है, दर्शन नहीं। उसमें वर्तमान को बनाये रखने का प्रयत्न होता है भूत और भविष्य का विरलेक्षण नहीं। सामाजिक जीवन का विकास अद्य-व्यवस्था को धर्म देता है और वह राजसत्ता को। तात्पर्य यह है कि अद्य और सत्ता दोनों सामाजिक हैं। एक की प्रगति का फल अनेक को मिले और जो हस्तान्तरित हो सके वह वस्तु सामाजिक होती है। अद्य और सत्ता दोनों ही ऐसी वस्तुएँ हैं। धर्म वैयक्तिक है। उसका फल दूसरों का नहीं मिलता और न वह हस्तान्तरित हो हो सकता है। एक हिंसा नहीं करता चोरी नहीं करता वह धर्म है। इसका लाभ दूसरा का भी मिलता है। एक व्यक्ति की अहिंसकता और अनपहरणता जो अहिंसा और अधीन के परिणाम हैं, लाभ सबको मिलेगा तब धर्म सामाजिक क्यों नहीं, वह प्रश्न उठ सकता है किन्तु वह वस्तु स्थिति को जटिल नहीं बनाता।

एक व्यक्ति की धर्म साधना का लाभ दूसरा को नहीं मिलता, हमका अभिप्राय वस्तु प्रतिपादन और विनिमय से है। धर्म में प्रतिपादन और विनिमय की वह शक्ति नहीं है जो पैसे में है। इसलिए वह स्वलाभ को प्रसरणशील नहीं बनाता। धर्म का प्रतिपादन पौष्ट्यवर्धक वस्तुएँ नहीं हैं और न दूसरों में वह विनिमित्त होता है। धर्म तब तक नहीं होता जब तक व्यक्ति स्वयं उसकी साधना न करे। इसलिए वह वैयक्तिक है। अद्य

सामाजिक हाथ हूँ भी कुछ अशों तक वैयक्तिक होना है। वैसे ही धर्म वैयक्तिक होने पर भी कुछ अशों तक सामाजिक है। व्यक्ति की रायन प्रवृत्ति से समाज की आध्यात्मिक स्थिति का प्रेरणा मिलती है और उसका निवृत्ति से समाज का अनिष्ट नहीं बढ़ता इस प्रकार वह समाज के लिए लाभकारक है इसलिए वह सामाजिक है।

सामाजिक कल्याण के लिये अर्थ और सत्ता ये दोनों आवश्यक माने जाते हैं। उन क्षेत्र में ये दोनों नहीं हैं इसलिए वह असामाजिक भी है।

धर्म स्वर्णम सामाजिक नहीं है किंतु वह समाज की स्थिति को प्रभावित करता है इसलिए अर्थ और सत्ता पर उसका नियंत्रण होना है।

एक सिद्धांत अर्थ प्राप्ति का है। उसके विरुद्ध दूसरी विचारधारा अपरिग्रह की है। अपरिग्रह असामाजिक है। समाज परिग्रह के बिना नहीं चलता।

परिग्रह का एकाधिपत्य भी असामाजिक है। अधिक संप्रदाय के लिये लोग घुर बनते हैं और अधिक संप्रदाय से समाज में विश्वास गाना है वैयक्तिक फैलना है मरना बढ़ती है।

सामाजिक प्राणियों के लिए एक तीसरे माय की गौर हूँ, वह न परिग्रह का है न अपरिग्रह का। वह है इन्द्रा परिणाम या परिग्रह का सीमाकरण। इसी मध्यम माय का नाम है अणुनन'।

विश्वस जीवन में शिथिलता लाता है। इसके लिए अधिक संप्रदाय आवश्यक होता है। विश्वस स्वयं धर्म नहीं करता इसलिए उसे अपनी आवश्यकताओं पूरी करने के लिए दूसरों से धर्म लेना पड़ता है। धर्म का प्रतिदान पैसा है, जो अधिक पैसा खर्च करना है वह दूसरों से अधिक धर्म लेता है। इस तरह दो बग खल बन जाते हैं। एक धर्म लेनेवाला और

भ्रम भ्रम देनेवाला । पैसोंके बन्पर भ्रम लेने-लेने व्यक्ति भ्रम बन जाता है ।

भ्रम देनेवाला अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिए पैसा कमाता है या उसमें अपनी सामर्थ्य नहीं कि वह शारीरिक भ्रम किये बिना पैसा कमा सके । इसलिए वह शारीरिक भ्रम लेकर पैसा कमाता है और इसीलिए भ्रमजीवी बन जाता है । अधिष्ठित जनता में बुद्धिजीवी और भ्रमजीवी एक ही वग सहज हो बन जाते हैं । शिक्षित दशा में यह स्थिति मध्यम होती है । सब क-सब बुद्धिजीवी बन जाय ता क्या खस्यें, क्या पीयें और कहाँ रहें ? सबके-सब भ्रमजीवी बन जायें तो मनुष्य के बौद्धिक विकास का द्वार खुल जाय रहे ? इस समस्या पर विचार करने पर निष्कर्ष यह निकलता है कि सर्वमें बुद्धि-काशल समान नहीं होना और जिनमें बुद्धि काशल तुल्य भी होता है, उन्हें भी अवसर समान कहाँ मिलते हैं ? समान अवसर देनेवाले भी समान लाभ नहीं उठा सकते । इस स्थिति में दा वग कमा टूट जाय यह कदापि सम्भव नहीं । सम्भव है, दोना का समन्वय । बुद्धिजीवी भ्रम को नीचा न माने और भ्रमजीवी बुद्धि को ऊँचा न समझे फलित भाषामें बुद्धि-जीवी अपना आवश्यक भ्रम दूसरों से न ले काम करने में लज्जा का अनुभव न करें उस स्थिति में वे अपरिमह की ओर भाग बढ़ सकते हैं । परिमह का क्रम है—विलास से बहिष्करण, बहिष्करण से स्वयं हाथों से काम करने में लज्जा दूसरों से भ्रम भ्रम प्रतिपादन के लिए फिर उसे का अधिक सम्पद अधिक सम्पद के लिए अधिक बुरा, यानी अधिक दिसा और अधिक दृष्ट । दिसा अपने आप अधिक नहीं बन्ती । असय की भी यही बात है । रोग का मूल भोगवृत्ति है । उसके लिए परिमह और परिमह के लिए हिमा और असय का विस्तार होता है । जीवन-परिवर्तन की दिशा भोग विरति है ।



आज की दुनिया में यह मान्य हो चुका है कि अहिंसा का विकास किये बिना विश्व शान्ति कभी नहीं हो सकती। इसलिये बहुत सारे व्यक्ति अहिंसक बनना भी चाहते हैं पर वे जीवन श्रम को बदल नहीं। इसीलिये वे अहिंसक बन नहीं पाते। हिंसा का कभी परिग्रह की कभी पर निर्भर है, परिग्रह की कभी भोग की कभी पर। लोग चाहते हैं—भोग विलास जो हैं व ता पलत ही रह। परिग्रह भा कम न हा और हिंसा भी गूट जाय। कैसा है यह ध्यामोह? भोग विरति व बिना जो हिंसा विरति चाहते हैं व धुराद को जड़ को सौचत हुए भी परिणाम से बचना चाहते हैं। जो हिंसा विरति या अहिंसा का विकास चाहते हैं उन्हें समझ लेना है कि हिंसा व कारणों का त्याग बिना हिंसा का त्यागन का परिणाम कबल दम होगा अहिंसा नहीं। इसीलिए आचार्य श्री तुलसी न अपनी उदात्त वाणी में कहा— जीवन को हलका बनाओ क्योंकि भय व गुस्सन भार से दबा जीवन पवित्र नहीं बन सकता।

जीवन-गुदि के लिए अहिंसा के द्वारा जिसका जीवन बदलना है वह न दूसरों से अनावश्यक श्रम लेना है और न किसी का शोषण करना है। निश्चय में अहिंसा अनी है तब व्यवहार में स्वनिर्भरता अपन आप भा जानी है। अथवा यों कहना चाहिए कि व्यवहार में स्व निर्भर रहनवाला ही अहिंसा का विकास कर सकता है। कोई श्रम करे या न करे इससे अहिंसा का सम्बन्ध नहीं किन्तु दूसरे से श्रम लेने के लिए परिग्रह व परिग्रह के लिए हिंसा, इस तरह हिंसा को बढ़ावा मिलता है। स्वयं श्रम करनेवाले को अधिक परिग्रह की अपेक्षा नहीं होती। अधिक परिग्रह से निरपेक्ष व्यक्ति अधिक हिंसा में नहीं पसता। इस प्रकार स्व श्रम



हटे । पदार्थ समग्र में अपना अनिष्ट न दीखे तब तक ममत्व-वृद्धि नहीं मिलेगी । समग्र में अनिष्ट की भावना अध्यात्म दृष्टि से मिलनी है । उसका आदेश है—कोई कुछ भी समग्र न करे । अपने से बाहर की वस्तु को अपनी न माने और न उसे अपने अधिकार में ले । यह कठोर साधना है । इसके लिए जीवन का रुतियों का महान् बलिदान चाहिये । एमा न कर सके उनका लिए फिर मयम माग है । उसकी दृष्टि है—जीवन निर्वाह की । आवश्यकता से अधिक समग्र न किया जाय । जिनका समग्र उतना बंधन—यं मन ग्रहण की पूर्व भूमिका है । समग्र द्वारा इष्ट पूर्ति की कल्पना होनी है नव वं साध्य नैसा बन जाना है । आत्म विनाश की कमी है उससे समग्र को आत्साहन मिल रहा है । लखपति कोटिपति भा धन कमाने का दौड़ में जुट रहते ह । दुकाये में क्या होगा ? बाज-बर्बा का क्या होगा ? एसी आशंकायें उह भताती रहनी हैं । आत्म विश्वास उत्पन्न करने के लिए अथ व्यवस्था की स्थिरता अपेक्षित होनी है । प्रत्येक व्यक्ति को कार्य मिल जाये और वह योग्यता के अनुकूल मिले ऐसी स्थिति में जीवन की निश्चिन्तता आनी है । भावी जीवन और भावी पीढ़ियों की चिन्ता कम होनी है समग्र-वृत्ति शिथिल बन जानी है । ऐसी भूमिका म ग्रंथों को विकसित हान का सुंदर अवसर मिलना है । पर स्थिति नसरी हा है । जहां एसी भूमिका है वहां ग्रंथों की भावना नहीं ह और जहां ग्रंथों की भावना है वहां वैसी भूमिका नहीं है ।

गरीबी में अभिलाषा बनी रहनी है । अमीरी का दाप है—अनृति । मनुष्टि या वृत्ति अनुत्पन्न साध स उत्पन्न होना है । पहल—वस्तु का त्याग और फिर वासना का त्याग ।

त्याग समतावाद है। अपने दिन के लिये सब कुछ त्यागे—यह सिद्धान्त जैसा धनी के लिए है वैसा ही गरीब के लिए। गरीबों को त्याग द्वारा दो वस्तुएं सामनी चाहिये—एक ध्यमन मुक्ति, दूसरी इच्छा मुक्ति। धनिकों को उसके द्वारा तीन वस्तुएं पानी चाहिये—( १ ) ध्यमन मुक्ति ( २ ) इच्छा मुक्ति ( ३ ) मत्तापन।

गरीबों को करना चाहिये—बहु भोग, बहु परिग्रह और बहु हिंसा की आकांक्षा का त्याग। धनिकों को करना चाहिये—बहु भोग, बहु-परिग्रह बहु हिंसा और इनकी आकांक्षा का त्याग। समाज का समतावाद सबके लिए समान सुविधा समान भाग और विकास का समान अवसर मिश्रण का सिद्धान्त है। सुख सुविधा और भोज्य जहाँ साध्य बनने हैं वहाँ उपग्रह और शोका सुख आने हैं। अनुग्रह आध्यात्मिक समतावाद के साधन हैं। हम क्षेत्र में जीवन का साध्य है—सविन्या और वस्तु निरवेष आनन्द। सुख-सुविधा और भोग जीवन निर्वाह की प्रक्रिया है। उसमें अधिक आकषण और ममकार नहीं होना चाहिये। 'मैं जैसे अनुभूतिशील हूँ वैसे दूसरे प्राणी भी अनुभूतिशील हूँ'—इसकी सामंजस्य सभी समझी जानी है जब सद्वर्तनी पदार्थों से आकषण और ममकार दृष्टा है। वे व्यक्ति की मूढ़ बनाते हैं। मूढ़ व्यक्ति दूसरों की आनुपातिक समता को सदा सदा नहीं भाँक सकता। आध्यात्मिक दृष्टि विपुल दान है। वह अपनी समता का स्वीकार है। अपनी मानसिक स्थिति नियम न हो यही साम्य है। यह अमूर्त दर्शन है। इसी के आधार पर अनुग्रह-आन्दोलन के स्वरूप आदि का निर्णय किया जा सकता है—

(१) अनुग्रह आन्दोलन का स्वरूप है—समिष्टता।

(२) अणुजन-आन्दोलन का ध्येय है—जीवन सुद्धि ।

(३) अणुजन-आन्दोलन का आदर्श है—चरित्र का उत्कर्ष ।

(४) चरित्र उत्कर्ष के हेतु—बहु योग, परिग्रह और बहु हिंसा ।

(५) चरित्र उत्कर्ष के हेतु—भोग-व्यपत्ता परिग्रह-अपत्ता और हिंसा अपत्ता ।

(६) आदर्श प्राप्ति के साधन—अणुजन ।

हिंसा असत्य चोरी, अन्याय और परिग्रह, ये पांच दोष हैं । इन में मूल दोष हिंसा है । उसकी वृत्ति विविध सदागो में विविधमुखी बन जाती है । अमल्य और चारी ये दोनों स्नेह की अपेक्षाओं नहीं हैं । इसलिए ये बर्हेहिक हैं । मुख्य वृत्त्या सामाजिक स्थिति सापेक्ष हैं । सामाजिक जीवन में जैसे बड़ा सम्मान स्नेह की प्रवृत्तियाँ उभरती हैं वैसे ही विरोध कण्ड निंदा, खुगला, दापारोपण और भय की वृत्तियाँ भी प्रबल बनती हैं । इन वृत्तियों का निमित्त या हिंसा का बीज असत्य के रूप में पड़ पड़ता है । असत्य मन असत्य वाणी और असत्य चेष्टा मनुष्य में आ जाता है फिर वह अमन के संस्करण और सत् के अमत्करण में लग जाता है । सम्प्रेष में असत्य के चार कारण बताये हैं—

(१) क्रोध (२) लोभ (३) भय (४) हास्य-सुन्दर

क्रोध के आवेश में भास्वर व्यक्ति सचाया को बदल देता है । सचाय का निरूपण हुआ पूर्ण में बाधक बनता है तब अन्यथा निरूपण का भाव बनता है । इसी प्रकार अनिष्ट की आशंका और हसी मजाक भी असत्य की द्वाारण हैं ।

प्रतिष्ठा बड़प्पन पदार्थ का आरूपण और अतृप्ति ये चारी के निमित्त

घनते हैं । अकेलेपन में प्रतिष्ठा या बहुपन के भाव पैदा हो नहीं होते । यह पर-सापेक्ष-वृत्ति है । पदार्थ के प्रति आकर्षण अकेलेपन में भी होता है किन्तु वही वस्तु का उपभाज्य दूसरा नहीं होता इसलिए उस धुराने की रक्ति नहीं आगती । जो स्थिति पदार्थ के आकर्षण की है वही अतृप्ति की है । अतृप्त या असंतुष्ट व्यक्ति का वस्तु-समूह आवश्यकता निभर नहीं होना । वह केवल लाभाना निभर होता है इसलिए असंतुष्ट व्यक्ति आवश्यकता के बिना भी दूसरों की वस्तु चुरा लेता है । इस प्रकार असत्य और चोरी ये दोनों परिस्थिति सहचरित अपेक्षाएँ हैं । तात्पर्य की भाषा में धुराई का बीज व्यक्ति का अपनी अतृप्ति है । सामाजिक परिस्थिति का निमित्त पाकर यह अनेक रूप बन जाती है । हिंसा ही निमित्त भेद से असत्य और चोरी का रूप ले लेती ॥ ।

वैयक्तिक स्थितियाँ या दैहिक अपेक्षाएँ दो कोटि की हैं—देह प्रधान और मानस प्रधान । भूख प्यास आदि देह प्रधान अपेक्षाएँ हैं और वासना-अन्नप्रचय, सुख दुःख आदि मानस प्रधान । अन्नप्रचय दैहिक है फिर भी बाहरी निमित्त से उत्तेजित होता है इसलिए परिस्थिति सापेक्ष भी है । परिग्रह कुछ अन्धा में दैहिक है, कुछ अन्धा में बदैहिक और बाहरी स्थिति सापेक्ष है । खान पान भा परिग्रह है हम दृष्टि से वह दैहिक भी है । परिग्रह के अधिक सचय का निमित्त सामाजिक परिकल्पना है, हम दृष्टि से वह बदैहिक भी है । व्यक्ति का मापदण्ड धन बन जाता है जिससे पास धन थोड़ा वह छोटा और जिसके पास धन बहुत वह बड़ा—एसी परिकल्पना आ जाती है परिग्रह के सचय का निमित्त बदल फिर वह जीवन निर्वाह का साधन न रहकर विलास

साधन बन जाता है। निमित्त परिवर्तन का सिद्धान्त स्थापक है। प्रत्येक काय की प्रारम्भ दशा का निमित्त आगे चलकर उषी रूप में नहीं रहता। वस्त्र के निमित्त-परिवर्तन की स्थिति देखिए, शीत और गरमी से बचाव करने के लिए वस्त्र परिधान चला। कुछ समय बाद दैहिक अपेक्षा जो थी वह कार्यात्मिक बन गई। दूसरा निमित्त बना लज्जा-संरक्षण। लज्जा रक्षा का विकास होता होते सारा तन कपड़ों से ढक गया। इससे आगे विकार-भावरण भी एक निमित्त बना। शोभा अभिमान और स्पर्धा, ये भी निमित्त बन चुके हैं। वस्त्र-परिधान की जो उपयोगिता थी उसे सौन्दर्य और स्पर्धा ने रौंद डाला।

समाज की धुरी अथ नीति है इसमें कोई संदेह नहीं। अथ नीति का आधार पर समाज बनना बिगड़ना है। उसकी अच्छाई और बुराई का आशर पर वह अच्छा और बुरा बनता है। समाज की अर्थ-नीति धर्म निष्ठ स्वावलम्बी और आत्म निर्भर होगी है तब समाज भी अपने धर्म पर भरोसा करनेवाला और अपरिग्रह की ओर आगे बढ़नेवाला होता है। अथ नीति शापण पर आधारित होगी है, अधिशक्ति और शक्तिहीन वर्ग के धर्म का अनुचित लाभ उठाने की होती है तब समाज चिलासी आलसी और संप्रतिष्ठ बनता है। समाजवाद अथ नीति को सब सामारण उपयोगी यानी शोषण हीन बनाने की प्रवृत्ति में सलग्न है। वैसा कुछ बनता भा दीख रहा है। फिर भी वह सत्ता और भय पर आश्रित है। अपरिग्रह का सिद्धान्त आत्माश्रित है। यह हृदय में उतर आये तो सत्ता के दबाव के बिना हा समाज शोषणहान बन जाए। पर जैसे जानि के आशर पर छोटा बड़ा होने की मान्यता मिटे बिना जानिवा नहीं मिटने

वाला है वैसे ही धन राशि प्रतिष्ठा, बरूपन, विनास और सुविधातिरेक का साधन बनी रहेगी, उस स्थिति में न अपरिग्रह वृत्ति जीवन में आने वाला है और न धन का आकर्षण छूटने वाला है। व्यवस्था-सुधार समाज वादी योजना का फलित है। अपरिग्रह के सिद्धांत का फलित है वृत्तियों का सुधार। वृत्तियों के सुधार के लिये व्यवस्था-सुधार की अपेक्षा रहती है और व्यवस्था-सुधार का परिणाम वृत्ति-सुधार या हृदय-परिवर्तन होना चाहिये। हम भूमिका में दोनों के साथ एक न होने पर किंचित् सापेक्ष बन पाते हैं। सुधरी हुई व्यवस्था के बिना वृत्तियों के सुधारने में कठिनाई आती है। इसलिये साधारणतया (विशेष जागरूक व्यक्तिता को छोड़ कर) वृत्ति-सुधार को क्षोण हीन व्यवस्था की अपेक्षा रहती है। वृत्ति-सुधार हुए बिना व्यवस्था-सुधार टिकाऊ नहीं बनता। इसलिये व्यवस्था सुधार को वृत्ति-सुधार की अपेक्षा रहती है।

आन्ध्र और विलासपूर्ण जीवन रहे तब अशुक्तों की कन्या सफल नहीं हो सकती। अशुक्ती अशुक्तों का पालन भी करे और जीवन को अधिक भार से बोझिल भी बनाये रखे ऐसा बनना सम्भव नहीं। विलासी जीवन में धन खप जाता है। सादगीपूर्ण जीवन में धन खमकते हैं। धन और मन, दोनों एक साथ नहीं खमक सकते। न्याय साधनों द्वारा जीवन निर्वाह उपयोगी धन मिल जाना है किन्तु आन्ध्र और विलास योग्य धन नहीं मिलता। विनास के लिए धन का अतिरेक और उसके लिए अन्यायपूर्ण तरीकों का अवलम्बन ऐसा होता है मन टूट जाते हैं। इसलिए अशुक्ती को जीवन-व्यवस्था का चालू क्रम बदलना पड़ता है। ऐसा किए बिना वह मन और विलास दोनों के साथ भी न्याय नहीं कर सकता।

न बड़ सफल मनी बन सकना और न सफल बिलासी भी रह सकता है । इस पर से अगुमनी के लिए जीवन-व्यवस्था के परिवर्तन की बात मानी है । शोषणहीन समाज-व्यवस्था में उसे कोई कठिनाई नहीं किन्तु समाज-व्यवस्था वैसी न बनने पर भी कम से कम उसे तो अपना जीवन थम बदलना ही होगा । धन के द्वारा बड़ा बनने की भावना दूसरों से अधिक सुविधा पाने की भावना दूसरों के धन द्वारा अनुपम लाभ कमाने की भावना, शोषण और अवैध तरीकों द्वारा धनार्जन की भावना छोड़ देना उसका सही धर्म हो जाना है । अनुपम विचार का लक्ष्य है—यदि-व्यक्ति में सदा धर्म का निर्वहण जानना, प्रत्येक व्यक्ति अपनी आन्तरिक प्रेरणा द्वारा पुराईया से सचे बचने का उपाय करे मनी बने वैसी भावना पैदा करना ।



## निर्माण की दिशा में व्रतों का महत्त्व

परिस्थितिवाद को लेकर दो चारोंपै पक्ष पक्षी हैं। कोई कहते हैं—  
आध्यात्मिक उन्नति के लिए बाहरी व्यवस्था का सुधार निम्न आवश्यक  
है। इसे ही सोचते हैं—अटल परिस्थितियों में भी आध्यात्मिक उन्नति  
हो सकती है। इन दोनों में भी सफाई का अर्थ है। सामान्य शक्तिवाले  
व्यक्ति अटल स्थितियाँ से लड़ नहीं सकते। उन्हें सरल स्थिति की अपेक्षा  
रहना है। उसी में वे कुछ सहे रह सकते हैं। विविध शक्तिवाले व्यक्ति  
बाहरी व्यवस्था को काँपकर आगे बढ़ जाते हैं। वे बाहरी स्थिति का  
गुलाम नहीं होते।

अनुक्रम मानदोस्त आध्यात्मिक चारित्रिक या नैतिक गति का प्रेरक  
है। इसके पास आर्थिक सुधार का विकास की कोई योजना नहीं है।  
इसके पास एकमात्र योजना यही है कि मनुष्य का स्थिति में मनुष्य रहे।  
अच्छी स्थिति में मनुष्य मनुष्य रहे और बुरी स्थिति में वह मनुष्य भी न  
रहे वह मनुष्यता नहीं परिस्थिति की गुलामी है। मन निष्ठा का तात्पर्य  
है—मनुष्य परिस्थिति का भिक्षुता बने। बुरी परिस्थिति में मनुष्य स्वस्थ



निष्ठ नहीं रह सकता—अणुजल दृष्टि में यह माय नहीं है। स्थिति के अनुसार बुरा भला बनने की शक्ति परमेश्वर की भावना है। मनुष्य ने षष्ठ सहस्रपुत्र का विकास नहीं किया इसलिए वह कष्टों से घबरा परिस्थिति के सामने घुटने टेक देता है। अणुजली अहिंसा निष्ठ होता है। अहिंसा निष्ठ षष्ठ सहस्रपुत्र होता है। वह स्थिति के सामने झुकना नहीं, उसे सहन किये चलता है। भावना की हीनता के कारण मनुष्य में तिनिया की कमी हुई है। अणुजल-आन्दोलन की अपेक्षा है—मनुष्य को उसकी शक्ति का भान हो। धारणा में परिवर्तन होने पर सुख-सुविधा की अपेक्षा चरित्र का भूय बढ़ जायेगा। चरित्र को छोड़कर सुख-सुविधा पाने की प्रसिद्धि दूटने पर मनुष्य को नीचे जान का बात ही नहीं सूझेगी।

जीवन की सामान्य सुख-सुविधाओं की उपेक्षा हो, ऐसी दृष्टि अणुजल-आन्दोलन की नहीं है। इसकी दृष्टि है—सुख-सुविधा पाने के साधन दोषपूर्ण न हों, कभी न हों किसी भा स्थिति में न हों।

### अपरिग्रह का माग

परिग्रह मनुष्य की मान्यता है। वस्तु का भूय और वस्तु के द्वारा सुख होने का विचार भी उसकी मान्यता है। आवश्यकता की जो पूर्ति है वह सुख या असुख कुछ भी नहीं है। उससे आगे जो सुख की कल्पना है वह मानसिक मान्यता है। पदार्थ न परिग्रह है न बंधनकारक और न दुःखदायी। हमारी इच्छा उससे जुड़नी है तभी वह परिग्रह बंधनकारक और दुःखदायी बनता है। वस्तु स्थिति में परिग्रह इच्छा ही है। वह मनुष्य की अपनी स्थिति है। वह बाहरी पदार्थों से सम्बद्ध होकर उन्हें भी परिग्रह बना टालती है। फिर इच्छा प्राचुर्य से अथ प्राचुर्य और अथ

प्राच्य से इच्छा-प्राच्य इस प्रकार दोनों की कड़ी जुड़ जाती है। समाजवाद के अनुसार अथ प्राच्य से कल्याण माना जाता है। वह अथ प्रचुरता का दण्ड है। अतः दृष्टि एसी नहीं है। इच्छा-प्राच्य दोनों को माय नहीं है। व्यक्ति की इच्छा का नियन्त्रण दोनों चाहते हैं। अधिक इच्छा और अधिक सम्राट से व्यक्ति अधिक नीच गिरता है इसलिए मन की दृष्टि है—व्यक्ति इच्छा और सम्राट पर नियन्त्रण करे। समाज दृष्टि व्यक्तिगत अधिक सम्राट को इसलिए बुरा मानता है कि उससे समाज में गोप्य बढ़ता है, अनीति प्रबल होती है। समाजवाद ऐसी स्थितियों का निवारण चाहता है जिससे कोई भी व्यक्ति अधिक सम्राट कर ही न सके। मन की भावना यह है कि कोई भी व्यक्ति अधिक परिमरी न बने। ऐसा विवेक तत्सम आग जाय। यह विवेक जागरण ही अवरिम्राह का मार्ग है।

### कष्ट की राह या शान्ति की ?

पूजापति और गरीबों के हिन परस्पर विरोधी हैं। उनके समन्वय के दो माप हैं—एक पञ्चन का दूसरा भाग-बल का। यह सब जानत हैं—भण्डार जागरण के युग में विपुल वैश्य दिक्खेवाला नहीं है। वह मिटगा यह निधि नैसा है। पर कैसे मिटगा ? यह प्रश्न कई राष्ट्रों के लिये अनि महत्व का है। भारत के लिये और भी विशेष है। वह कानून के द्वारा मिटगा है या सयम के द्वारा यह देखना है। धन से मोह छूटना नहीं कानून अनिरिध धन छाड़न के लिये बाध्य करना है सब कष्ट होना है। सयम धन का महत्व छूटने से जाता है, वैसी स्थिति में धन-सम्राट न रहन पर भी कष्ट नहीं होना। धनना कष्ट को मोल लेना चाहगी या शान्ति को ? इसका निश्चय अभी हुआ नहीं है। पूजीवाद के अनिष्ट परिणाम

बेकारी, दरिद्रता, भुखमरी आदि को समझकर लोग समाजवाद की ओर झुक गये। वैसे ही पूँजी के अनिष्ट परिणामों—मोह, लालच, भ्रष्टाचार आदि-आदि को लोगों ने नहीं समझा। अब उसी को समझने और समझाने का प्रयत्न करना होगा।

### आकर्षण कैसे छूटे ?

पूँजी वस्तु विनिमय का साधन है। उसमें फलदान की शक्ति है। पैसा लेकर जाता है वह बाजार से मनचाही वस्तु ले आता है। अपरिमित खींचकर बाजार में जाये तो उसे साथ के लिये एक कक्की भी नहीं मिलती। दिनचर्या के अधिक अंग पूँजी से पूरे बनत हैं। ऋतुचर्या के अंग भी वैसे ही हैं। रोटी बपटा महान, दवा व छोटी बड़ी सभी वस्तुओं की आवश्यकता होती है। उसकी पूर्ति वैसे से होती है। इसलिए वह सहजतया बिना कहे-सुने और प्रचार किये आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। अपरिमित के लिए प्रचार चलता है, अपरिमित बनने की सीख दी जाती है फिर भी उसके लिये पर्याप्त मात्रा में आकर्षण पैदा नहीं होता। सही अर्थ में थोड़े आदमी विश्वास करते हैं—अपरिमित मन अच्छा है। बहुतां का विश्वास परिमृदु मन है। अपरिमृदु मन है इसलिए वह साधना सापेक्ष है। हम हाथ से दिया उस हाथ से लिया—ऐसी नाट्यात्मक फलदान शक्ति उसमें नहीं है और उसका फलदान भी पदावधारक नहीं है। उसका फल है—शक्तियों का गुबार, आन्तरिक आनन्द। बहुत लोग इस गहरे दशम तक जाने को डग भरना भी नहीं जानते इसलिए वहाँ जाना भी नहीं चाहते। ऐसी स्थिति में वैसे का आकर्षण एकदम हो जाता है।

### मूलयोगन की दृष्टि

मनुष्य का मूल्य कैसे से आँका जाता है। कैसेवाला निगुण भी सब कुछ और निपुण सगुण भी कुछ नहीं—प्रायः इसी स्थिति है। विद्वान् और बलाकाट, शिल्पी और कुशलकर्मी इन सबको कैसेवाले का द्वार खट खटाना होता है। सत्य की भाषा में—विद्या, कला, शिल्प ये सब कैसे के सामने झुकते हैं इसलिये वह सर्वांगीर सम्मान पा रहा है। इस स्थिति में वह सबकी दृष्टि सहसा अपनी ओर खींच लेता है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

### भूख-सुधार

कैसे के प्रति आकर्षण होने की वा मुख्य बातें बताए गए हैं उनके बारे में हमें कुछ दृष्टि से विचार करना है। यहाँ जीवन है वहाँ उसके निर्वाह की आवश्यकताएँ भी हैं, इसमें कोई संदिग्ध नहीं। यह भी सच है—आवश्यकता-पूर्ति के लिये पदार्थ और पदार्थ प्राप्ति के लिये पैसा या वस्तु जैसा दूसरा कोई भी साधन आवश्यक है। किन्तु यहाँ एक तथ्य समझना और ध्यान रह जाना है। वह यह है कि मनुष्य जिनका कार्य आवश्यकतापरा नहीं करना उनका कृतिवत्त करता है। प्रत्येक कृति में वासना-पूर्ति की भावना होती है। व व्यक्ति में कृत्रिम आवश्यकता पैदा करती है। उनसे कुछ आवश्यकताओं पर परदा गिर जाता है। मनुष्य नहीं सम्पन्न पाना—यथा आवश्यक है और यथा कान्यनिकः। कुछ आवश्यकताएँ व्यक्ति बहुत बड़ा कार्य करता है। अधिकांश कार्यों के पीछे कृति की ही प्रेरणा होती है। अनगिनत मित्रद्वारा खाद जाती हैं उनका हेतु मूल सामान है या खाद कृति २ एक आदमी अपने रहने के लिये को पार


मकान या महल बना लेता है। यह क्या है? आवश्यकता है या एसी आराम की इच्छा? क्या सभी कपड़े आवश्यकता के लिये पहन जाते हैं? कठोरो की पूजा क्या आवश्यक होती है? इसी प्रकार एक ओर आमोद प्रमोद बोल-बाल जैसे जीवन के साधारण कार्य और दूसरी ओर घन समग्र जैसे विशेष कार्य ये सभी बटुलनवा इच्छा प्रेरित होते हैं। झूठी भूख या कृत्रिम भूख से आदमी घागा है उससे शासना पूरी होती है, शरीर नहीं बनता। यही बात कृत्रिम आवश्यकताओं की है। उससे प्रेरित हो मनुष्य समग्र करता है आनन्द नहीं मिलता। ऐसे के प्रति जो अधिक या सर्वापरि आक्षेप है उसका हेतु कृत्रिम आवश्यकता है। यह भटकाने वाली भूल है। पारित्तिक विकास के लिए इसका परिमाशन करना होगा। शुद्ध आवश्यकता और कृत्रिम आवश्यकता का विवेक धागून करना होगा। अनुभव-दशन बलाना है कि प्रत्येक अनुभूती कृत्रिम आवश्यकता पैदा करनेवाली इच्छाओं का निग्रह करे :

### मूल्य-परिवर्तन की दृष्टि

धमरी बात है—मूल्य परिवर्तन की : इसके बिना मन विक्रम मं कठिनाइयाँ आती हैं : जहाँ बाहरी पदार्थों के आधार पर व्यक्ति का मूल्य आँका जाता है, वहाँ व्यक्ति पदार्थों के नीचे दब जाता है। व्यक्ति का महत्व धन और पदार्थ के साथ जुड़ा होता है तब चरित्र विकास की सहाय प्रेरणा नहीं मिलती। मूल्यांकन की दृष्टि चरित्र हो तब ही वह व्यापक रूप में सहाय स्फुरित हो सकता है। स्वाय सम्पादन का ध्येय गौण होने पर ही परमाय दृष्टिबाल व्यक्ति पैदा हो सकते हैं। इमानदारी के प्रति भ्रष्टा बड़ने पर ही इमानदार पैदा हो सकते हैं। धन का मूल्य बना है। उसने

धम निष्ठा पैदा हुई है। फिर भी व्यक्ति-व्यक्ति के बीच योग्यता का अति मात्र तारतम्य है। वह धम निष्ठा को व्यापक नहीं बनने देगा। अत्यन्त न्यून पात्रों की योग्यतावाला व्यक्ति दूसरे के धम को अपने ऊपर ओढ़ लेता है। ऐसा करने में उसकी स्वायत्तीन बुद्धि नहीं है किन्तु वह अपना पैदा पात्रों के लिए ऐसा करता है। जिसे बौद्धिक योग्यता मिली है और जो विश्वासी है वह प्रायः बुद्धिहीन व्यक्तियों के धम का अनुचित लाभ उठायेगा। वह बुद्धिहीनता व्यापक है। वही उसे धमनिष्ठ नहीं बनने देगा। बौद्धिक योग्यता बढ़ने पर ही धम का विषय कम हो सकता है। चरित्रनिष्ठ बनने में भी ऐसी बाधाएँ आती हैं। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच जो आकांक्षा का तारतम्य है वह चरित्रनिष्ठा को व्यापक नहीं बनने देगा। अति आकांक्षावाले धन को अधिक महत्व देते हैं इसलिए धनी को अपने नाम अति महत्व मिल जाता है। धनी को पैसों-वैश्व अधिक महत्व मिलता है वैसे-वैसे वह और अधिक धनी बनने का इच्छा करता है। आध्यात्मिक योग्यता बढ़ने पर ही आकांक्षा कम हो सकती है। उसे जगने की आवश्यकता है। ऐसा होने पर ही जीवन में मूल्य बदल सकता है।

### व्यक्ति निर्माण की दिशा

अभ्युत्थन-आन्दोलन व्यक्ति निर्माण की दिशा है। सत्ता से सामूहिक उर्ध्वता बदल जाता है। मर्णा से वैसा नहीं हो पाता। सत्ता बाहरी रूप बदलती है, वह अन्तर का नहीं छूती। मन जनन को छूते हैं। जनन का परिवर्तन आन्तरिक योग्यता पर निर्भर होता है। वह सबकी समान नहीं होनी। इसलिए एक साथ वैसा नहीं बनना।  स्थिति में व्यक्ति निर्माण की बात शेष रहती है। व्यक्ति समान का अर्थ है। एक अर्थ भी

ज्योति गुज बनता है, उगस मगूज समाज की आलोक मिला है ।  
 भण्डवग भान्दालन भाष्यात्मिक है । इसकी दिशा मबरक साध करने की  
 नहीं है । सुराह्यो कर-कर मब लाग मुख-मुविधायो पा रहे हैं फिर मरेला  
 में ही उद खोख मुख मुविधायो स कवा बचिन रहें । को सबको हागा  
 बही मुम्मे होगा, यह विचार भर भाष्यात्मिक है । व्यक्ति का पतन उसके  
 अपने गुर कर्म से होता है इसलिये मुम्मे उससे अवश्य बचना चाहिये  
 यह भाष्यात्मिक बचना है । व्यक्ति निर्माण की सही दिशा यही है ॥  
 आन्दोलन की कल्पना है कि प्रत्येक व्यक्ति—

(१) भय (२) सहिष्णु (३) समभावी (४) पवित्र (५) समुद्र  
 (६) शांत (७) जितस्त्रिय और (८) आग्रहीन बने ।

## व्यक्तिवाद और समष्टिवाद

नीति शास्त्र के अनुसार नैतिकता व्यक्ति व जीवन से सम्बंध रखती है। उसका मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को आध्यात्मिक पूर्णता प्रदान करना है। राजनीति का ध्येय सामाजिक भलाई की रक्षा करना है। श्रीन महाशय का कथन है कि मनुष्य को 'आत्म-कल्याण का विचार पहले रखना चाहिए, पीछे उसे समाज की बातों की परवाह करनी चाहिए। जो व्यक्ति आत्म-कल्याण की चर्चा करता है वह समाज का भला कल्याण अपने आप ही कर देता है।' (नीति शास्त्र पृ० १२-४३) ऊपर की पंक्तियाँ व्यक्तिवाद विचारणा की प्रतीक हैं। व्यक्तिवाद स्वायत्त परता है इसलिए वह समाज को नहीं मानता। नैतिकता और व्यवहार की रेखायें दो दिशाओं में चलती हैं। नैतिकता के लिए वैयक्तिक स्वतंत्रता आवश्यक है किन्तु राजनीति का आधार वैयक्तिक स्वतंत्रता का समाज के लिये समग्रण है, नीति शास्त्र का ध्येय मनुष्यों को वैयक्तिक कल्याण प्राप्त करने में सहायता देना है और राजनीति का ध्येय सामाजिक भलाई को प्राप्त करना है। राजनीति की दृष्टि बहुमुखी होती



और नीति शास्त्र की रीति अनुसारी : ( नीति शास्त्र )

वैदिकी रीति से दमन पर व्यक्तिवाद स्थापना में अहित मूलभूत नहीं लगता पर गहरी मात्र में यह स्थापनादयता नहीं है : इस मान निष्ठता है : अपना कल्याण किसे बिना दूसरी के कल्याण की बात बोधी होती है : वैयक्तिक कल्याण की सर्वादा को न समझायाओं से समाज का उदयन कल्याण नहीं हुआ है : कम व्यक्तियों द्वारा समझा है समाज को बाहरी समस्याओं विन्नी ही अनिष्टता की रीति से न मूलभूत नहीं है : नैतिक प्रश्न द्वारा मनुष्य बाहरी दुलगा प्राप्त करने की चला नहीं करना

वरन् मा नरिक दुलगा प्राप्त करा की चला करता है और यह दुलगा हेतु की परिणता से ही जाती है बाह्य मकलता से नहीं : ( नीति शास्त्र पृ० ११५ )

निधेदस के साथ अभ्युदय जाता है : यह दूसरी का पाठ नहीं पढ़ना : कारा अभ्युदय किसी मरार माध्य का प्राणिक पल या मौल परिणाम नहीं होता इसलिए यह जुद्ध की मर्यादा का बाहक नहीं रह सकता : समाज समपन और परस्पररोपमह का प्रयोग भूमि है इसलिए यह अभ्युदयवादी है : एक-एक व्यक्ति अभ्युदय और निधेदस का समन रखता होता है : व्यक्ति समाज बाधन से बिगुल गुला नहीं होता है जो बिगुल बाधा भी नहीं होता : समाज का अपे तमों से यह जुड़ा होता है इसलिए यह अभ्युदयकारी होता है : अपनी आन्तरिक गुणों के शोषन से नियमन में यह समाज-मुक्त भा होता है इसलिए यह अभ्युदय वादी नहीं होता : इस प्रकार प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति आत्म-नो १ की मर्यादा में व्यक्ति शोषन और सामाजिक अपेक्षाओं की स्थिति में अभ्यु

आचरण इन दोनों की सहस्रियति लिए चलता है। यह अभ्युदय और निधेयम् का पृथक्करण नहीं किन्तु उनकी मर्यादा का विवेक है। अभ्युदय और निधेयस् दो न हों तो फिर उनके द्वैत की कल्पना भी व्यर्थ है। यदि वे हो हैं तो उनके स्वरूप दो होंगे। दो स्वस्म्यवाली शक्तियों का एक मानना मति विषय है।

अभ्युदय और निधेयस् की आराधना का देशकाल की दृष्टि से बदला हुआ। उससे अवयव ही सम्मोह बढ़ा। अमुक काल और अमुक क्षेत्र घम या निधेयस् की आराधना का है और अमुक देश, काल अभ्युदय या व्यवहार की आराधना का, इस प्रकार निधेयस् और अभ्युदय की साधना का बदला हुआ वह उचित नहीं। किन्तु इनके स्वरूप का स्वयंजान पाथक्य है, वह अकृत्रिम है, इसलिए वह अस्वाभाविक नहीं है। प्रत्येक कार्य निधेयस् के लिए ही यह स्थिति साधना के उत्कथ की है। इससे पहले सबकी सब निधेयस् के लिये नहीं होती। स्वजानि, समाज, राष्ट्र अपर राष्ट्र के अभ्युदय के लिए निधेयस् से मेल न खानेवाला भी बहुत सारी प्राप्तियाँ होती हैं उन्हें निधेयस् की साधना नहीं कहा जा सकता। इसलिए निधेयस् और अभ्युदय का स्वरूप भेद साधना भेद परिणाम भेद स्वयं सत्यकार है। निधेयस् की व्याख्या में 'उदात्त किमी प्रकार का आचरण इस निधेयस् की प्राप्ति में सहायक होता है वहाँ तक आचरण को मला कहा जाता है।' ( नीति शास्त्र पृ० १६८ ) 'जो व्यक्ति जितनी दूर तक राग-द्वेष के बन्ध में आता है वह उतनी दूर तक नैतिक आचरण करने में असमर्थ रहता है।' ( नीति शास्त्र पृ० १६८ ) अभ्युदय के मार्ग में मलाइ

सुराह की परिभाषा समाज की उपयोगिता अनुपयोगिता से जुड़ी हुई होनी है और वहाँ राग द्वेष का मर्यादित आचरण भी निन्दनीय नहीं समझा जाता ।

अभ्युदयवाद का आधार सुखवाद (स्वार्थ और पराध्व दार्जी प्रकार के ) और सुखवाद का आधार जड़वाद है । मौन प्राणी की पूर्ण समाप्ति है । यह जड़वाद की पूर्व मान्यता है । इसलिए उसमें जीवन और उसने आधारभूत नव शरीर का सर्वोपरि महत्व है, निभेयम् साधना में जीवन और शरीर का महत्व नहीं वहाँ उनके नियमन-रायम का महत्व है, जीवन क्षण भंगुर और शरीर असार है, उसमें स्थिरता का अंश और मार साध इतना ही है कि जितना वह निभेयम् का साधन बने । इसलिए अनुग्रह का घोष है—“संयमः सल्ल जीवनम्” रायम ही जीवन है, जीना रायम नहीं है, निभेयम् की विचारणा में वस्तुन जो संयम है वही जीवन है ।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद मन का आधार नहीं बन सकता । सुख मिले, दुःख न हो जीवन बना रहे, मौन न हो—यह प्राणीमात्र की स्वाभाविक मनोवृत्ति है । सुखीपणा और प्रार्णवणा से प्रेरित हो वे सुख-सुविधा के साधन जुटाते हैं । सुख-सुविधा में कहीं संलग्न न पड़ जाय—यह वृत्ति आने बहती है । उससे संग्रह का भाव आता है । वह मन के बांध को तोड़ टाँसता है । फिर आवश्यक्ता की बात गौण हो जाती है । सिर्फ संग्रह के लिए संग्रह प्रयत्न बन जाता है । दूसरों के शोषण, उत्पीड़न दमन आदि सभी दुचेष्टाओं के पीछे यही मनोवृत्ति होती है । सुख पाने और दुःख से बचने की वृत्ति “मनो

वैज्ञानिक मुखवाद" कहा जाता है। नानि शास्त्र की दृष्टि से इसे समझना चाहिए। अन्त्युदय में मुख की कामना छूटती नहीं इसलिए सामाजिक क्षेत्र में दूसरों को दुःख देकर मुख पाने और दूसरों को मार कर जीवन की वृत्ति कुरी है यह माना गया। निधयस् मानन्दमय है। मानन्द चरित्र का उदात्तीकरण है। मुख पौद्गलिक तृप्ति या पूर्ण है। इसलिए वैदिक जन्तु में मान-दानुभूति के लिए मुख की कामना को दुरा माना गया। शरीर धारण और जीवन निर्वाह के लिए अनिवार्य अपेक्षाओं को पूरा करना मुखवाद नहीं है। वह आवश्यकता की पूर्ण है। जीवन निर्वाह की दो प्रगण जम्कते हैं—कपड़ा और रोटी। रोटी जिस शरीर की सहज मांग है उसे कपड़ा उसकी सहज अपेक्षा नहीं है फिर भी समाज का संस्कार समाज में इतना प्रगण बन गया कि कपड़ा पहना जरूरत बन गया। रोटी के बिना कई दिन काम चल सकता है पर कपड़े के बिना एक घंटा भी काम नहीं चलना। रोटी की खोज में आदमी तभी जा सकता है जबकि कपड़ा पहने हुए हो। भावना का अनिरोध भी हुआ है। जम्बू की बात है—एक दिन मैंने एक भाइ से पूछा इस टाई का क्या उपयोग है? उत्तर मिला—कुछ भी नहीं—मैंने कहा फिर इसका प्रयोग क्या? उत्तर मिला—एक दिन ऐसे बांधे बिना आफिस में चला गया तो अधिकारी ने कहा—टाई न बांधना हो ता नौकरी छोड़ दो। जो कपड़ा अपने आदि काल में समाज की शक्ति पाप आदि का प्राण बना वह विकास पाते-पाते भावना का प्राण बन गया। यह अनन्य प्रमाण है। अथ प्रयोग की दृष्टि से समाज के संस्कारानुसार वह जीवन की पहली जरूरत है, दूसरी जोड़ हो मन नहीं। दूसरी जम्कत राठी

है, तीसरी अपेक्षा है—घर। ये अपेक्षाएँ अपेक्षामात्र रहती हैं तब तक व्यक्ति हट पूरी करना चला जाता है। किन्तु जब इनकी पूर्ति में सुख साधना, आराम और विकास का विद्यमान भाव पुनः जाता है, तब ये अपेक्षाएँ गौण बन जाती हैं और सुख साधना मुख्य बन जाती है। यह है सुखवाद। इसकी दिशा में सहज तृप्ति मिल जाती है। अतृप्ति का ताँता सा लग जाता है। उपाध्याय विनय विजयजी ने सुखवाद की परम्परा को बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है—

‘प्रथममशनपानप्राप्तिवाद्वाविहस्ता—

स्नदनुवसत्बस्नालङ्कृतिव्यग्रमिच्छा ।

परिणयनमपत्यावाप्तिमिष्टेन्द्रियार्थान्

सन्तनमभिपन्नं स्वस्थतां क्वाप्सुधीरन ॥

रोटी पानी, कपड़ा घर, आभूषण छी सन्तान प्रिय इन्द्रिय, विषय स्पर्श, रस, गन्ध रूप शब्द—इस प्रकार इच्छा कम सन्तान प्रवाही है। इसमें बहनेवाला थोड़ा बड़ा हिस्सा और बड़ा परिग्रह की दिशा में चला जाता है। इस पर नियन्त्रण की हो, वही मन है। मनी जीवन में इच्छा नियन्त्रित हो जाती है। केवल जीवन की अपेक्षा शेष रहती है। मन के द्वारा जीवन की दिशा बदल जाने पर व्यक्ति हिंसा और परिग्रह के अन्वीकरण की ओर चल पड़ता है। जीवन निर्वाह के लिए अल्प हिंसा और अल्प परिग्रह रहना है बाकी की कामनाएँ धुल जाती हैं। यही कारण है कि मन की भावना में सुख का प्रदत्त प्रमाण नहीं रहता। वहाँ मुख्यतः हिंसा और परिग्रह के अन्वीकरण की होती है। यही मन का आधार है।

## अणुव्रती समाज-व्यवस्था

जीवन की आवश्यकतायें नहीं छूटनी—यह निर्विच्छेद है। विक्षय उनका पूर्ण क्रम में होता है। पूर्ण की पद्धति सामाजिक होती है। निर्वाह की जिस पद्धति का समान उचित या अनुचित मानना है उसके पीछे उसका दार्शनिक मान्यतायें होती हैं। इन्हीं पर नियन्त्रण सभी समाजों में होता है। यह समाज एकरूपता है। नियन्त्रण का नारतम्य और उसके प्रेरक हेतु स्वयं एकरूप नहीं होते। नियन्त्रण के चार प्रकार हैं—( १ ) भौतिक ( २ ) राजनीतिक ( ३ ) सामाजिक ( ४ ) नैतिक या आध्यात्मिक। इनके प्रेरक हेतु क्रमशः—प्रकृति भय राज्य भय समाज भय और आत्म-पतन भय हैं। इनमें पहले तीन भय बाहरी और आखिरी आन्तरिक हैं। प्रकृति, राज्य और समाज की मर्यादा का उत्थान करनेवाला उनके द्वारा दण्ड पाना है। इसलिए दण्ड की आशंका ही वहाँ उनकी मर्यादा का पालन और जहाँ वह न हो वहाँ मर्यादा की अवगणना भी हो जाती है। आत्मिक नियन्त्रण दण्ड प्रेरित नहीं होता। वह व्यक्ति का अपना आन्तरिक विवेक जागरण है। इसलिए स्वयं बाह्य भीतर का द्वैध नहीं होता।

प्रकाश या निमित्त परिपक्व या एकान्त में पुराई से बचने की समष्टि हा जानी है, यही आध्यात्मिक भय है। यह भय रखनवाला बाहर की स्थिती भी शक्ति से नहीं डरता इसलिए सही मात में यह अभय है। अगुत्तरी समाज-व्यवस्था में नियन्त्रण का प्रकट हेतु आत्म-पतन का भय है। उसमें बनी व्यवस्था या विधि उचित मानी जाती है जो आत्म पतनकारक नहीं होनी। आवश्यकता-पूर्ति का प्रयत्न प्रतीत वाधा डालनेवाला नहीं होता। प्रतीत में वाधा वासना से आती है। आवश्यकता और वासना का पृथक्करण करना ही अगुत्तरी समाज-व्यवस्था का लक्ष्य है।

आवश्यकताएँ अधिक रहें वैसी दशा में नैतिक निष्ठा कम नहीं सकती। उसके बिना मन केवल औपचारिक हो जात है। इसलिए आवश्यकताएँ कम करना भी अगुत्तरी-समाज व्यवस्था का लक्ष्य है।

अधिक आवश्यकताएँ निषादमूलक नहीं होती। वे इच्छा पर नियन्त्रण न कर सकने की स्थिति में होती हैं। यह राग का मूल है। इच्छा पर नियन्त्रण नहीं होना है तब आवश्यकताएँ बढ़ती हैं। जब आवश्यकताएँ बन्नी हैं नैतिक निष्ठा कम होती है। नैतिक निष्ठा कम होनी है, मन औपचारिक बन जात है। औपचारिक प्रतीत से वह गान्ति नहीं मिलती जो प्रतीत से मिलनी चाहिए। इसलिए अगुत्तरी समाज-व्यवस्था का सबसे पहला या प्रथम लक्ष्य है—इच्छा का नियन्त्रण। सम्भव में— इच्छा नियन्त्रण के द्वारा आवश्यकता का उत्पत्तिकरण और उसके द्वारा आवश्यकता और वासना का पृथक्करण करना अगुत्तरी-समाज-व्यवस्था का लक्ष्य है।

### नया मूल्यांकन-नया आकषण

परिस्थिति के मूल्यांकन और आकषण की दृष्टि बदले बिना समाज

की स्थिति में योग नहीं आता । इसलिए अनुजयी समाज की व्यवस्था के मूल और आधार नये ज्ञान चाहिये । इसमें मूल्यांकन की दृष्टि त्याग और आश्रय की दृष्टि आत्मिक पवित्रता का संरक्षण और विकास होगी । धर्म के द्वारा मूल्यांकन करने की बात कहा जानी है पर अनुज्ञ-दृष्टि के अनुसार धर्म आवश्यकता की कोटि का है । वह जीवन की प्राथमिक या अनिवार्य आवश्यकता है, साधना नहीं । इसलिए वह समाज के उत्थान की अपेक्षा बन सकता है मान-रूप नहीं । त्याग आवश्यकता की पूर्ति नहीं है वह पवित्रता का आधार है । इसलिए उसमें मान-रूप बनने का क्षमता है । धर्म करे या न करे, कर सके या न कर सके, पर अपवित्रता का त्याग दोनों धर्मियों के लिए आवश्यक है । इसी प्रकार कहा जा सकता है— त्याग करे या न करे, कर सके या न कर सके, धर्म भी दोनों के लिए आवश्यक है । इस प्रकार दो स्वतंत्र विचारों से त्याग और धर्म दो स्वतंत्र शक्तियाँ बन जाती हैं । त्याग धर्म नहीं है और धर्म त्याग नहीं है । किन्तु यहाँ धर्म है वहाँ त्याग सरलता से आ सकता है, बढ़ सकता है और वहाँ त्याग है वहाँ धर्म टिक सकता है । भाग प्रधान जीवन में विनाश आता है । उससे धर्म का प्रति दृष्ट जानी है । अथवा में धर्म का प्रशानता में त्याग आ भी सकता है और नहीं भी । किन्तु त्याग की प्रशानता ( औपचारिक नहीं किन्तु हार्दिक त्याग का प्रशानता ) में धर्म अपने आप आवेगा । इस प्रकार अनुजयी-समाज-व्यवस्था में धर्म नीति नहीं माना जायेगा । वह जीवन निर्वाह की अनिवार्य अवस्था की दृष्टि से देखा जायेगा । प्रती की मूर्तता के लिए परावृत्तमान ज्ञानी विज्ञान की ओर बलि नहीं पनप सकेगा । अधिक पसे वा माध्य परिवर्तन विज्ञान



और प्राथमिक परिणाम परावर्त्तन होता है। मन का साध्य-परिणाम पवित्रता और प्राथमिक परिणाम स्वावर्त्तन का भय है। जैसे की जगह मूल्यांकन का मायन मन बने, विनायक का आश्रय छुटकर पवित्रता का आकाश बने तभी परावर्त्तन का स्पष्ट स्वावर्त्तन हो सकता है। इसलिए मयात्र और विनायक भासी पीढ़ी के संस्कारों को प्रारम्भ से ही हम नष्ट मूल्य और आकाश की दृष्टि का भाव, हमका मौलिक प्रदान हान की अपेक्षा है।

### जीवन-ध्येय की माधुर्य

जीवन का सर्वोपरि ध्येय क्या है? हम प्रश्न का उत्तर एक नहीं बताते। परमात्म पद, मोक्ष या परम विकास की ओर जीवन की महज गति है—एसा एक अभिप्रेत है। दूसरा अभिप्रेत इतना भागे नहीं जाना। वह इसी जीवन की समाप्ति का विकास का अनन्त चरण मानना है। इस प्रकार सर्वोपरि ध्येय के द्वार में एक पल नहीं खींचना। अंगुष्ठ आन्दोलन से मापारण है। पवित्रता का आगिरी यज्ञ को कार माने या न माने वही तक पहुँचने का प्रयत्न कर या न करे किन्तु पवित्रता की पहली मजिल सबके लिये समान है। उसका यश में मने ही धीका बहुत अंतर है परन्तु अन्ततः पवित्रता की मात्रा में ही नहीं हो सकता। अंगुष्ठ की साधना जीवन-पवित्रता की पहली मजिल है। पर उसकी दृष्टि वही तक सीमित नहीं है वह और आगे बढ़ती है। अन्ततः अन्ततः हिमा उत्पीड़न और गोप्य भाति अंगुष्ठ माधुर्य के द्वारा पन्ना समुद्र न करने की बात पवित्रता का पहला चरण है। अंगुष्ठ दृष्टि का दूसरा चरण 'साय' के द्वारा भा पदार्थ का अधिक समुद्र न करना

है। अधिक संग्रह के रहते हुए पवित्रता बढ़ नहीं सकती, शान्ति का रूप ले नहीं सकती इसलिए उचित साधनों के द्वारा भी पदार्थ का अधिक संग्रह न करना इसका दूसरा अंग है। इस प्रकार इसका काम सीमित बनते-बनते जीवन की अनिवार्य आवश्यकता की रेखाओं तक पहुँच जाना है। यहाँ साधना की सीमा आकांक्षा भुल जाती है, आवश्यकता की मद आकांक्षा शेष रहती है। यहाँ जीवन ध्येय की साधना भी सफल बन जाती है। आत्मिक ध्येय की साधना जो जीवनान्तर में भी सञ्चालन होती है, में आवश्यकता की मद आकांक्षा भी नहीं होनी चाहिये। जीवन ध्येय आत्मिक ध्येय की गहराई तक नहीं पहुँचना। जीवन ध्येय की साधना शरीर, बाणी और मन की तीव्र आसक्ति मिटा, उन्हें पवित्र करने की है। आत्मिक ध्येय की साधना शरीर, बाणी और मन को मिटा देने की है। जीवन के पवित्रीकरण की साधना आत्मा के पवित्रीकरण की साधना का ही स्थूल अंग है इसलिये इसकी आराधना सूक्ष्म तक पहुँचनेवालों के लिये पढ़े सोपान के रूप में और सूक्ष्म की चर्चा में न जानेवालों के लिये निर्विकल्प रूप में हो—यह आवश्यक है।

## अन्तर के आलोक में हमारी जीवन दिशा

समाज और राज्य की परिस्थितिका नीति बदरी प्रकाश है। वह दस काल और स्थिति की उत्पन्न होती है। उमर अनुसार कोर भी काय पुरा या मला ही नहीं होगा किन्तु पुरा या मला भी होना है। अध्यात्म दृष्टि या धर्म निर्मापिका दृष्टि अन्तर का भाषाक है। वह सामान्य शब्द है, उमर राज्य में देश काल की अस्थिरता नहीं रहनी। नीति का आधार शब्द व्यवहार और समाज की मलाद है। अध्यात्म का आधार अन्तर गापन और आत्मा की मलाद है। अध्यात्म शब्द है नीति उमर की गारता। जहाँ क बिना सामान्य का स्थायित्व नहीं होता, अध्यात्महीन नीति धाँके में लक्ष्यता जानी है। अन्तर्निष्ठ उस अध्यात्म का अवलम्ब लेना ही चाहिये। इसमें एक दार्शनिक कल्पनाई भी है। नीति का विचार सवमाधारता है उसे अध्यात्म विचार मय-सम्पन्न नहीं है। आत्म, अमरत्व पुनर्जन्म अपने किये कर्मों का अवश्य भोग परमात्म पद से अध्यात्मवाद की पूर मायनाए हैं। अनात्मवादी को ये स्वीकार नहीं होनी इसलिए दोनों के धर्म का मापदण्ड अलग एक नहीं होगा। नीति सवाधिक जीवन की उपयोगिता

है, यह दृष्टि स वह आत्मवादी को भी मान्य होती है पर न नीतिवादी का मान्य नहीं होता अनर्थ समाज की भूमिका में न नीतिवादी गणराज्य के चरित्र का मूल्य आंकने की दृष्टि उसमें नहीं होती। समाज का समाधान है। उसका विचार न नीति है और न समाज का समाधान है। उसका आधार नृत्त आध्यात्मिकता है, उसकी मूल्य का ध्येय आत्म-प्राप्त के द्वारा परमात्मा की ओर प्रयाण है। नीति का मान्य उसमें सहज हो जाता है, इसलिये नीतिवादी और समाज के लिये वह समन्वय का माग है।

आज व्यक्ति का जीवन उद्देश्य-शून्य दिशा में चलना चाहता है पर दिशा नहीं मिल रही है। उसे कुछ दिशा है पर जीवन की सही दिशा देने में या उसे डटने का प्रयत्न नहीं हो रहा है। कुछ तो है ही रहा है। उसीक परिणामस्वरूप पूजा का मोह आक्रमण हो रहा है। पूजाका अर्थ किनारा और धर्म और साधन की मर्यादा का विवेक नहीं रहा है। और निरुत्पन्न स्थानों से घन ध्यान में मग्न हो रहा है। फलस्वरूप मनुष्य का जीवन वास्तविक बन रहा है खड़े हो रहे हैं।

पदार्थ परक विकास जीवन में गान्धि राजा लोक प्रतिष्ठा का पथ है वह भी चलवाने के लिये इमन विशेष रूप से वैज्ञानिक और शिक्षित होना चाहिए कि वह समझ ही उस मान्य है।

हमारी मान्यता संयम विकास या प्रतिरोधात्मक शक्ति के विकास की है। उसकी ध्वनि है—आवश्यकताओं पर नियन्त्रण करो, अपना संयम करो वृत्तियों का प्रतिरोध करो, वस्तुओं का अतिमात्र उपयोग मत करो।

दोनों भिन्न दिशाएँ हैं। चौराहे पर खड़े व्यक्ति को निर्वाचन करना है, उसे कहीं और किस रास्ते से जाना है? पदार्थ विकास में जगत् की अज्ञानता और विषम बना रहता है वह प्रकाश की भाँति स्पष्ट है। फिर भी इच्छा का अल्पीकरण और वस्तु का भीमाकरण अच्छा नहीं लग रहा है। विलास और सकृष्यन की वृत्ति संयम की बाधक बनी हुई है। यह भोगवाद की परिस्थिति है। हमके निम्नांक दो हनु हैं—(१) व्यक्ति की आत्मिक कमजोरी, और (२) जन पालन के अनुरूप भूमिका का अभाव। राष्ट्र समाज और परिवार का बानावरण जन के अनुरूप नहीं होना तबतक व्यक्ति को जन पालन की सहज प्रेरणा नहीं मिलती। जीवन निर्वाह की अनिधिगता, प्रतिष्ठा और भोग विलास की तीव्र भावना से धन के अतिमात्र संग्रह की वृत्ति पुष्ट होती है। निर्वाह की चिन्ता का सम्बन्ध समाज-व्यवस्था से है। भोग विलास की तीव्र भावना का सम्बन्ध व्यक्ति की अपनी भावना से है। समाज की व्यवस्था उत्तरदायित्वपूर्ण और प्रतिष्ठा की मान्यता का आधार योग्यता हो तथा व्यक्ति में भोग नियन्त्रण की शक्ति बड़े तभी सामूहिक रूप से अपरिग्रह की भावना को बल मिल सकता है।

जो धन करता है वह छोटा समझा जाता है, उसमें स्वयं ही हीनता की भावना बन जाती है। बड़ा वह है जो ज्यादा धनी है, बड़े मकानों में रहता है भौतिक सुख सुविधा से अधिक सम्पन्न है। मलाई और नीति

वं प्रत्यक्ष चक्षुः व्यक्त होता रहताये, यह उसे अच्छा नहीं लगता, नर  
 वह धन-समृद्धि का पाग चुनना है। वहाँ सत्य और न्याय की बात गौण  
 बन जाती है या उर जाता है। बला-बलाय करने का आधार पैसा रहे  
 ऐसी दशा में अविश्वस्य का भूमिका नहीं बनती। ऐसे का मादक माध्यम  
 मूर्खता की दृष्टि का बहुत पैसा है। यह मर्दता से या अधिक मादक है।  
 पक्ष में धन का प्रदान की शक्ति है इसलिये उसकी भार महसा दृष्टि  
 खिच जाती है। बहुरोग और बहुयोग की पूर्ति के लिये बड़े परिश्रम की  
 बात प्रगट रहे वहाँ प्रयत्न का ज्येष्ठ मुक्त नहीं हो सकता। इसलिये जो  
 बनी बनत हैं वे परिश्रम की जड़—मोक्ष-वृत्ति का नियमन करें, धर्म को  
 नीचा और परिश्रम को ऊँचा मानने की भावना को तोड़ें तभी अविश्वस्य  
 और अहिंसा का विचार आगे बढ़ सकता है। अगर ऐसा हुआ तो अवश्य  
 ही प्रयत्न प्रगट का अहिंसा-प्रभाव समाज का निर्माण हो सकता और  
 अहिंसा भाई-बहन उस मादक समाज का आधार-स्तम्भ और सुप्रचार होंगे।



हैं। उनकी शिक्षा भी तभी आवश्यक होती है जबकि समाज स्व नियंत्रण की धार भूल जाता है। स्व नियंत्रण से मिला हुआ भी नहीं कुछ बनना भी नहीं, किन्तु यह सब अच्छाईयाँ की जड़ है, इसीलिये इसके अभ्यास की पुनरावृत्ति करनी ही होगी। जिन राष्ट्राँ में नैतिकता की ऊँची भावना है उनमें आत्म नियंत्रण का भाव भी विकसित है। व कठिन स्थिति को झेकने के लिये अपने पर काबू पा सकते हैं। कठिनाई व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सब पर आती है। निरोधक शक्तिवाले बिना पबराये उस लाप आस हैं और जो निरोधक शक्तिहीन हाथ हैं वे उसमें डूब मरते हैं। अधिकांश मानसिक रोग और बहुत सार शारीरिक रोग इसी निरोधक शक्ति की कमी के कारण होते हैं। आत्म हत्याओं का भी यही प्रधान कारण है और भी अनेक घृणादर्या इसी के अभाव में बनपनी हैं। इसलिये अणुमन-आन्दोलन ने इस मूलभूत तथ्य का पकड़ा है। उसके लगभग सारे मन व्यक्ति को निरोधक-शक्ति की साधना की ओर ले जाते हैं। उनका हाद मत करो-मन करो करना ही नहीं है किन्तु “मन करा” इसके पीछे नियंत्रण शक्ति की विराट साधना जो छिपी हुई है साध्य बर है। असुख मन करो—यह उसी साधना के सनेन साधन हैं। जो व्यक्ति के सद्बोधक और भलाई की मौलिक वृत्ति का जागरण किये देते हैं। वे मन केवल प्रनिरोध शक्ति के विकास की ओर ले जानेवाली दिशाएँ हैं। मनी बननेवाले इन्हें ही साध्य मानकर न रहें। आलोचना करनेवाले साध्य के बाहरी रूप में ही न उलझें। दोनों ( मनी और आलोचक ) आगे बढ़ें। साध्य की विराट सत्ता को देखें। वहाँ उड़ बह सत्य दिखाई देगा जो सृष्ट होते हुए भी आँखों से परे है और जिसका अभ्यास समाज

धरणा राष्ट्र धारणा और मोह धारणा सभी धारणाओं का मूल है। समाज में प्रतिरोध शक्ति कम हुई-हुई है। उसके अभाव में सुराईया बिल्कि पनपी हुई हैं। इसलिये कुछ मन करो जो करो उमरम अनापदमक, मनुष्यदोषी और सुरा मन करो—यह नियेष मन निष्क्रियता या अकर्मण्यता का लक्षण रहा है पर यह अकर्मण्यता नहीं कर्मण्यता का परिष्कार या शोधन है। एक पाषक और छुरा भी कर्मण्य हो सकता है और होना भी है किन्तु वह अनियोजित और अपरिष्कृत कर्मण्यता है। कर्मण्यता का परिष्कार नियन्त्रण से ही हो सकता है। समाज उसे भुग्राय हुए है। इसी छिपे बच्चे के कारण काय लगे रहा है। उसकी साधना भी लम्बा समय ले सकती है, भूतें भी बलुन हो सकती हैं। सुराई भी सहना नहीं आती। उसका भी बिलिक विकास होना है। मैंना कि आचार्यजी ने कहा है—“पहले-पल्ल सुराई करन सकाच होना है—वृक्षा हानी है। दमरी बार सकाच होना है। तीसरी बार सकोच मिट जाना है। चौथी बार साहस बढ़ जाना है और फिर वह सहज बन जाती है। यह सुरी प्रगति का अभ्यास-मम है। उसके सत्कार पढ़ने में पीढ़ियां गुजर जाती हैं। भण्डाई के लिये भी यही मम है। भले सत्कार दिनों महिनों या वर्षों में ही एकरस नहीं बन जात। उनके परिणाम और मूल प्रवृत्तियां तो और अधिक लम्बा समय लेती हैं। पहले तो सिद्ध समाज के थोड़े आदमी ही आगे आते हैं फिर प्रयत्न होत-होते वह समाज-व्यापी बन जाता है, सहज भाव से आत्मसात् हो जाता है। इसलिये अवरक्षता की बात आन्दोलन के सामने गौण है। प्रधान बात यह है कि वह शाश्वत सत्य और समाज की मूलभूत अपेक्षा की भित्ति पर खड़ा हुआ है। समाज के साथ



एकरस होने की सम्भावनायें हममें रही हुई हैं।

निषेधात्मक कृत्य सामयिक और सावकालिक होते हैं। जमन दाशनिक काष्ठ ने मनुष्य के कृत्यों को निश्चित क्षण और अनिश्चित क्षण—इस प्रकार दो भागों में बांटा है। जो अनिवार्य आदत है वह निश्चित क्षण कृत्य है। अधिकतर ये कृत्य निषेधात्मक होते हैं अर्थात् वे मनुष्य को किसी विशेष प्रकार के अशुचि कार्य से रोकते हैं। दूसरी ओर ये कृत्य विषेयात्मक हैं। निषेधात्मक कृत्य सवकालीन और सब देशीय होते हैं और विषेयात्मक इनके विपरीत होते हैं अर्थात् वे देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं अतएव उन्हें निश्चित नहीं कहा जा सकता। आदोलन के मत निश्चित कृत्य की भूमिका के हैं इसीलिये उनका स्वरूप अधिकतर निषेधात्मक है।

## अनन्त आनन्द का सतत प्रवाही स्रोत

अहिंसा और हिंसा ये दो विरोधी प्रवाह हैं। इनकी धारायें कभी मिलनी नहीं। एक जीवन में दो धारायें हो सकती हैं। एक दृष्टि में दोनों नहीं हो सकती। अहिंसा आत्मा की स्वाभाविकता और जीवन की उपयोगिता है। हिंसा जीवन की अनिवार्यता या अनिवार्यता और आत्म शक्ति के आत्म विकास की दृष्टि में पनपनेवाली गुराई है।

आत्मा, शरीर, वाणी और मन ( या आत्मा और शरीर ) की सहयोगी स्थिति का नाम जीवन है। इस सहयोगी स्थिति का अधिकारी जो होता है वह व्यक्ति कहलाता है। जीवन स्व ( आत्मा ) और पर ( शरीर, वाणी और मन ) का संगम है। व्यक्ति की स्व-पर के संगम से बनी हुई सत्ता है। जीवन का स्व अंश स्वभाव और पर-अंश विभाव है। वास्तव में स्वाभिमुखता या स्वमण है यही अहिंसा है। पराभिमुखता या पदार्थाभिमुखता विभाव विकार या हिंसा है।

स्वभाव का विकास शुरू हाउ ही विभाव एकदम बल नहीं जाता (, स्वभाव की मात्रा कम होती है विभाव सनाता है अशान्ति

लाना है। स्वभाव की मात्रा बढ़ती है—मन, वाणी शरीर और पदार्थ के प्रति नियन्त्रण शक्ति बढ़ती है तब विभाव उठना मनाता नहीं। फिर जीवन की दिशा और गति स्वयं स्वभावो-मुख हो जाती है।

अहिंसा विशाल होती है। हिंसा सीमा से परे नहीं हो सकती। एक व्यक्ति दूर होकर भी 'सबका हिस्सा बन जाये'—उठना कूर नहीं होना। उसकी हिंसा की भी एक निश्चित रेखा होती है। वह अपने राष्ट्र, समाज, जाति या कम-से-कम परिवार का शत्रु नहीं होना। वह हर भण क्रियात्मक हिंसा नहीं करता। व्यक्ति कोप करता है पर मोघ ही करता रहे—ऐसा नहीं होना। मान, माया और लोभ की परम्परा भी निरन्तर नहीं बढ़ती। कोप की मात्रा बढ़ती है व्यक्ति में पातत्पन छा जाता है। मान, माया और लोभ की बड़ी हुई मात्रा भी शांति नहीं देती। थोड़े में समझिये हिंसा को सीमित किये बिना व्यक्ति जी नहीं सकता।

अहिंसा विशाल है अनन्त है बंधन से परे है। कोद मनुष्ये जगत् के प्रति अहिंसक रहे तो रहा जा सकता है। अहिंसा की मात्रा बढ़ती है प्रेम का धरातल ऊँचा और निर्विकार होता है, उससे आनन्द का झोन पट निकलता है।

अहिंसा अनन्त और अनन्त आनन्द का सत्ता प्रवाही स्रोत है फिर भी मनुष्य का स्वभाव उसमें सहजन्ता नहीं मना। इसका कारण नियन्त्रण शक्ति का अभाव है। मन वाणी और शरीर की निरबुद्ध-वृत्तियों का प्रतिरोधन करने की आत्म शक्ति का बिना कम विकास होता है, उठना ही अधिक हिंसा का वेग बढ़ जाता है। हिंसा की मर्यादायें वृत्ति

होती हैं। उनमें तत्क मज्ज और सुमायनापन भी होना है। अहिंसा में दिखावटीपन या बनावटीपन नहीं होना। वह आन्तरिक मर्यादा है। वह आती है तभी व्यक्ति का व्यक्तित्व—जीवनकी स्वतन्त्रता निखरती है। आचार्यश्री गुल्मी ने अपने एक प्रवचन में कहा—‘आत्मानुवर्ती नियमानुवर्ती यानि अहिंसक ही वास्तव में स्वतन्त्र है।’

मनुष्य कुराह करते नहीं सउचना। इसीलिए दुनिया का प्रवाह विकार की ओर है। भोग और इन्श्यों की दासता बढ़ रही है। कहा जाता है—प्रकृति विषय की भार मनुष्य सकल अभियान कर रहा है। पर वह तथ्यहीन दावा है। पानी और अग्नि पर विजय प्राप्त करना ही प्रकृति-विजय नहीं है। शरीर बाणी और मन को जीते बिना प्रकृति नहीं जीनी जा सकती। स्व विजय के बिना प्रकृति विषय परदान न बन अभिशाप बन जाती है। स्व विजय का प्रयत्न बहुत बोजा होता है। इसीलिए भोग सता रहें हैं, विकार और हिंसा बढ़ रही है। एक की दमर क साथ स्वर्ध है। बानाकरण भय से भरा है। अहिंसा का दूसरा पहलू अमय है। अपनी मौन से टरना भी हिंसा है। जो दूसरों को पराधीन रखना चाहते हैं, हीन बनाये रखना चाहते हैं, जातिगत भेदभाव रखते हैं, छुआ-छूत, ऊँच-नीच और काले-भार क पधड़े में फँसे हुए हैं, उन्ह दखिये क अमय, नहीं हैं। शान्त नहीं हैं। जिनकी भोग लिप्ता बड़ी हुई है जो परिग्रह के पुनरे और दापन के पुन बने हुए हैं उनसे पूछिये उन्ह किनी गतिनी है? सान्निपूष जीवन बही बिना सक्या है जो ऊपर की बुराश्या से टर है। कुराह से दूर बही रह सक्या है निसर्ग प्रतिरोधात्मक शक्ति या स्व नियन्त्रण का पर्याप्त विकास होना है।

मृत नहीं, मृती का व्यवहार दीखता है ।

अनर्त्तव्य, सामान्य वस्तव्य, प्रधान वस्तव्य

खाना स्वाभाविक लगता है । नहीं खाना स्वाभाविक नहीं लगता । खाने का समय नहीं खाने के समय की अपेक्षा बहुत धारा होता है । खाना शरीर की जरूरत है इसलिये प्राणा खाना है । जरूरत पूरी होने पर नहीं खाना यह उसका हित है इसलिये वह खाना छोड़ देता है—खाने पर नियन्त्रण कर लेता है । नियन्त्रण शक्ति कम होती है, वह पेट बन जाता है जरूरत पूरी हो जाने पर भी खाना ही रहता है । यह विकार पक्ष है । परिमित खाना स्वभाव-पक्ष है । आरोग्य-मवधान के लिये स्वभाव-पक्ष का प्रतिरोध करना—नहीं खाना भूख सहना—यह हित पक्ष है । समाज की सारी वृत्तियाँ इन तीनों पक्षों में समा जाती हैं । कानून या विधि विधान यज्ञ को विकार-पक्ष से स्वभाव-पक्ष की ओर अप्रसर करता है । मृत स्वभाव पक्ष से हित-पक्ष की ओर जाने की साधना है या यूँ कहना चाहिये—विकार और स्वभाव में विरोध होता है तब सामाजिक विधि का निर्माण होता है तथा स्वभाव और हित में निरोध

होता तब आध्यात्मिक या नैतिक कर्मों की साधना अपेक्षित होती है। विकार, स्वभाव और हित की परिभाषा की सज़ा में मति माना, मात्रा और अमात्रा कहा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप-वासना की मति मात्रा पूर्ण विकार है। वासना की परिमित मात्रा-पूर्ण शरीर का स्वभाव है। वासना विजय या वासना की अमात्रा हित है। स्वभाव की दृष्टि से विकार अकृतव्य है और हित की दृष्टि से स्वभाव अकृतव्य है। शरीर स्वभाव की दृष्टि से मति मात्रा खाना अकृतव्य है पर आवश्यक व उपयोगी खाना अकृतव्य नहीं है। परन्तु हित की दृष्टि से परिमित खाना भी अकृतव्य हो जाता है। दूसरे के लिये पहटे का त्याग (उत्तरवर्ती व लिये पूर्ववर्ती का त्याग) कृतव्य की विशेष प्रेरणा से ही होता है। व्यक्ति में विवेक जागरण का उत्पन्न होना है तभी वह स्वभाव के लिये विकार का और हित के लिये स्वभाव का त्याग करता है।

जिसे भार मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणा हो वही उसके कृतव्य माना जायता अकृतव्य जैसा कुछ कहा ही नहीं रहता। शापण समूह और सत्ता की भार मनुष्य की पैसी स्वतन्त्र प्रेरणा होता है पैसी भले कार्यों के प्रति नहीं होती। किन्तु यह विकार के मोहक आवरण से ढकी हुई स्वाभाविक प्रेरणा है इसलिए यह अकृतव्य है। बंधन से ध्याना, परिग्रह और अधिकार प्राप्ति की ओर जो स्वाभाविक प्रेरणा होती है उसके पीछे आवश्यकता या उपयोगिता की सामान्य भावना होती है इसलिए वह सामान्य कर्तव्य है। अपरिग्रह और असत्ता समाज व वर्तमान मानस में स्वाभाविक प्रेरणा अन्य नहीं है इसलिए ये प्रधान कर्तव्य हैं।

अनुमति समाज व्यवस्था में—अकृतव्य का बचन सामान्य कर्तव्य का

नियन्त्रण और प्रधान कर्त्तव्य का विकास—ये तीन भूमिकाएँ होंगी जिनका स्थूल संकेत आन्दोलन की तीन श्रेणियों से परिलक्षित होता है।

### आत्मोदय या आत्म तुला की सावना

मन नहीं दीखते, कर्त्तव्य का व्यवहार दीखता है। जो क्रूर नहीं है उचित माना से अधिक समझ नहीं करता है अपने पड़ोसी या सम्बन्धित व्यक्ति से अनुचित व्यवहार नहीं करता है, अपने स्वयं को अधिक महत्व नहीं देता है अपनी सुख सुविधा व प्रसिद्धा के लिये दूसरों की हानि नहीं चाहता है हमरों का सुख-दौख्य विनशुता से अनुचित लाभ नहीं उठाना है—थोड़ा नैतिकता का मूल्यांकन करते हुए अपने आप पर नियन्त्रण रखता है ये वृत्तियाँ ही अंगुष्ठी होन का स्वयम्भू प्रमाण हैं। प्रभों की सावना के बिना उनका स्वाकारमान इष्ट फल नहीं लाता। पहली मजिद में केवल वस्तु का त्याग होना है। अन्तिम मजिद में वासना भी छूट जाती है। वस्तु-समूह के सम्कार भी मिट जाते हैं। व्यक्ति सत्कारों का पुता होता है। उसमें सबसे अधिक घने सत्कार अपनी सुख-सुविधा के हाते हैं जिनका त्याग वृत्ति में पूर्ण आवश्यक हो जाता है। पदार्थ-वृत्ति के सत्कार स्वार्थ से कम होते हैं। पदार्थ की भी कई भूमिकाएँ हैं—परिवार, जाति समाज प्रान्त और राष्ट्र, फिर मनुष्य और फिर प्राणी जगत्। इनमें अमन व्यापकता है। व्यक्ति का स्व जीवन विनाश बनना है उनका ही वह मय विनाश बन जाता है। यह आत्मोपम-सुख या आत्म तुला का विस्तार क्षेत्र है। पहले-पहल वह अपने पारिवारिक जनों को अपने समान समझने लगा। फिर उसने क्रमशः अपनी जाति, समाज, प्रान्त और राष्ट्र के व्यक्तियों को अपने समान माना। आगे जाकर

मानव मानव, माह माह का स्वर गुँजा । अन्तिम चरण में "प्राणीमान  
न्याय है, यह बुद्धि में समा गया ।

समाज में आत्मोपम्य बुद्धिवाद पैग हुआ है पर आत्मोपम्य-बुद्धि से  
प्रतिष्ठित होनेवाले स्वाध-स्वाय के ज्ञान की साधना नहीं है । ज्ञान का आवरण  
हटा हुआ है किन्तु माह नहीं छूटा है । यथाच ज्ञान भी मोह के रहते हुए  
क्रियामय नहीं बनता इसलिए एक कदम नीर आगे बढ़ना होगा । जैसे  
अज्ञान को मिटाने का प्रयत्न किया जैसे मोहको उखाड़ फेंकने की साधना  
करनी होगी । ऐसा क्रिय बिना अन्याय और अप्रमाणिकता का अन्त नहीं  
किया जा सकता । आम तौर पर सामंजस्य माह से दबा रहता है सभी  
व्यक्ति दूसरों का दमन, शोषण, उत्पीड़न करता है, उच्छास करता है, मारता  
है, हानि पहुँचाता है । जो दूसरों में अपनी जैसी ही अनुभूति देखने लग  
जाय वह फिर किसी को न मार सकता न सता सकता और न छुट  
सकता । जातीय और राष्ट्रीय समानता की भावना के कारण हर राष्ट्री  
का नैतिक बन्ध बहुत ऊँचा है । बाहरी समानता का भाव भी दाना फल  
ला सकता है तब मात्र आन्तरिक समता की शक्ति के महान् परिणाम के बारे  
में कोई सन्देह किया जाय ? आत्मिक समानता की शक्ति का उदय होने पर  
परिवार, जाति आदि के बाहरी भेद और भौगोलिक आदि दृष्टिभेद  
रेखाएँ ही नहीं मिटनीं उनका टन्नाद भी मिट जाता है । उपयोगिता  
पूरक भेद के रहने पर भी मन्त्राव बढ़ने का अवकाश नहीं रहता ।

### परिमर्द का अल्पीकरण

सामाजिक शक्ति के लिये अपरिमर्द का पूर्ण ज्ञान कल्पनामात्र हो  
सकता है । सचाइ यह है कि वह परिमर्द से पूर्ण मुक्ति नहीं पा सकता



उसका अस्वीकरण कर सकता है अपरिमह का मन ले सकता है। सम्पत्ति व्यक्तिगत रहे या उमका समाजीकरण हो जाये दोनों परिमह हैं। परिमह के समाजीकरण में लात्सा का रूपान्तर हो जाना है, उसकी निवृत्ति नहीं होनी। यह समाज के लिये उपयोगी व्यवस्था हो सकती है पर इसे अपरिमह मन नहीं कहा जा सकता।

व्यक्तिगत सम्पत्ति में कबल अपना अधिकार होता है और समानी कृत सम्पत्ति में सामूहिक अधिकार। स से व्यक्तिगत भाग मिल जाता है। सम्पत्ति से सम्बन्ध उड़ा रहना है वैसी दशा में पूरा अपरिमह की बात नहीं आती। मन आत्मोन्मत्त की भूमिका पर टिके हुए हैं इसलिये मन में सुख बात परिमह के अस्वीकरण की है। उमर होने पर समाजीकरण की व्यवस्था स्वयं सरल बन जाती है। अपरिमह अणुमन की भावना यही है कि कोई व्यक्ति समझ कर ही नहीं किन्तु कल की चिन्ता जो होती है—काम किया जा सके या नहीं? कमाया जा सके या नहीं? मिले या नहीं? नहीं समझ का हेतु है। यदि सामाजिक व्यवस्था निश्चिन्तना की स्थिति पैदा करदे तो फिर कौन समझ का माह करेगा? विशिष्ट अणुप्रतिया ने एक स्तर के समझ की छूट रखी है वह वैयक्तिक व्यवस्था पर आधारित है। जीवन के भरण पोषण की व्यवस्था सामूहिक हो जाये तो उसकी अपेक्षा नहीं रहेगी। सारन का बनमान आर्थिक स्थिति का प्रतिफल देखते हुए एक लाख की सरया अधिक है। पारिवारिक जीवन के सामान्य स्तर की अपेक्षा अधिक नहीं भी हो सकती है। अणुमन आन्दोलन का दृष्टिकोण केवल भारत तक ही सीमित नहीं है। हिन्दुस्तान का आर्थिक स्तर भी ऊँचा उठ रहा है। सारी स्थितियों की विमर्शना के

वाद अशुनियों को यही सख्ता उपयुक्त लगी। यह उत्कृष्ट सीमा है। इससे अधिक सग्रह किया ही नहीं जा सकता। इतना सग्रह किया जाय या रखा जाय यह अपेक्षा नहीं है। बहुत सारे विशिष्ट अशुनी इस सख्ता का शत्रुता भी नहीं रख रहे हैं। बहुतों के पास इतना नहीं भी है। अनन-पद्धति पर अशुश लगने के कारण अधिक सग्रह बढ़ाने का उनके पास साधन भी नहीं है। सग्रह बढ़ाना उनका ध्येय भी नहीं है इसलिए व्यक्तिगत सम्पत्ति रहने से लालसा अधिक बढ़ेगी—एसी सामान्य कल्पना नहीं की जा सकती। लालसा का नियन्त्रण मन की साधना से होता है। जीवन के निर्वाह के साधनों की सुरक्षता वैयक्तिक पद्धति से या सामूहिक पद्धति से इसमें विवाद नहीं। लालसा दोनों विकल्पों में भी बढ़ सकती है। मन व्यक्ति की आन्तरिक लालसा का नियन्त्रण है। तरबत यह ( लालसा का ) नियन्त्रण हा परिग्रह का अर्थीकरण है।

### अनैतिकता का उद्भव

अनैतिकता आर्थिक और राजनैतिक शान्तिवर्ण के वैयम्य से उद्भूत होती है—एसा माना जाता है। इसमें कुछ सच्चाई भी हो सकती है पर अबाधित सच्चाई नहीं है। अनैतिकता भोग-वृत्ति से पैदा होती है भोग की सामान्य मात्रा प्रत्येक सामाजिक प्राणी में होती है। उससे वैयम्य नहीं आता। भाग की मात्रा बढ़ती है तभी आर्थिक और राजनैतिक शान्ति वरण का वैयम्य बढ़ता है। उससे अनैतिकता को उत्पन्ना मिलती है। जो छाग अनैतिकता का मूल आर्थिक और राजनैतिक वैयम्य में बढ़ते हैं, भोग वृत्ति के नियन्त्रण की ओर ध्यान न देते हुए सिर्फ आर्थिक और राजनैतिक वैयम्य का निवारण किया चाहते हैं उन्होंने शराई की जगहों नही पकड़ा

है। भोग-वृत्ति प्रबल रहेगी तब वैषम्य मिटेगा कैसे ? यह आलोचनीय विषय का महत्वपूर्ण मुद्दा है। आर्थिक समता का प्रयत्न होना है, वृत्त व्यवस्था बनती है। समय बीतता है। उमरी हुई भोग-वृत्ति फिर उसपर छा जाती है। क्षातावरण विषम बन जाता है। भोग के लिये शक्तियोग की उपासना लगभग समूचे मानव समाज में परिब्याप्त है। आर्थिक और राजनैतिक समता तक पहुँचने का प्रयत्न समाज के लिये दुरा नहीं है पर वह केषल याना का विधान्ति शूद्र है—इसे नहीं भुलाना है। भाषिर वही तक चलना है जहां अनैतिकता की जब भोग वृत्ति पैर रापे बैठी है। उसे दस्ताइ पेंकना है। मन का साथ यही है।

## कमिक विकास का प्रथम मोपान

समाज का समनापूर्ण और स्थिर आर्थिक और राजनैतिक ढांचा ही नैतिकता का आधार है—यह भी अपसर है। लखखानी हुर आि क स्थिति में भी खाम कसकारों में पन्नेवाले लोग बनीनि से पर रह ह और रहते आ रहे हैं। आर्थिक साम्य न भी अपराधों का लम्बा सूचीपत्र बनना है। इन दोनों स्थितियों को अन्तिम होर या जापवादिक घटनाएँ नहीं कहा जा सकता। यह सचाई है। हमीके सहार हमें नैतिकता का आधार दूना है। गुराइन करने में अपनी भगई का विश्वास गुराई का गुरा पल भोगन क निश्चित नियम का विश्वास आत्मा के अमरत्व का विश्वास ये तीन विश्वास नैतिकताक आधार हैं। इनका विश्वास किये बिना नैतिकता का प्रतिष्ठापन नहीं किया जा सकता। समाजापण और सामाजिक एका की हई भावना भी नैतिकता का एक आधार बन सकती है पर इस आधार पर नैतिकता व्यापक नहीं हो सकती। यह अपन समाज और राष्ट्र तक ही सीमित होगी है। यह दूसरों के प्रति अधिक अनैतिक-वृत्ता क रूप में उभर आती है जैसा कि बहुत सारे भौतिक विचारप्रधान राष्ट्रां में हो

रहा है। यही हाल आर्थिक और राजनैतिक माम्य के आधार में बंध जाने वाली नैतिकता का है। इसलिये हमें पथ की लम्बाई को कम नहीं नापना चाहिये। नैतिकता के सही आधार को प्रकाश में लाया जाये और उसके सरकार दृग्मूढ क्रिये जायें—यह बहुत बड़ी अपेक्षा है।

### अजन पद्धति का विचार

शोषण और सभ्रह-इन दोनों का आधार अजन-पद्धति है। अर्थात्जन की पद्धति जहाँ नैतिकता से पूरित होती है वहाँ शोषण और अनावश्यक सभ्रह नहीं होता और जब वह स्वायत्त पूरित होती है वहाँ वैयक्तिक कमचारी की बुद्धि, क्षमता और धर्म का शोषण होता है। परिधम अधिक श्रिया जाता है। मूल्य कम चुकाया जाता है। यह स्थिति की विवशता से काम ठठाने की पद्धति है। इससे हृदय में क्रूरता बढ़ती है। अशुभनी क्रूर व्यवहार न करने और अनिधम न लेने का यत्न इसलिये लेता है कि वैसा करना राक्षसी हिमा है, दूसरों के औचित्य और अधिकारों का जानबूझकर किया जानेवाला हनन है।

सभ्रह की लालसा तीव्र होती है तभी अजन-पद्धति को बड़ा रूप मिलता है। अशुभनी सभ्रह में विद्वान् नहीं करते। वैसी स्थिति में अजन पद्धति को भारी भरकम बनाने या बनाये रखने का कोई अर्थ नहीं होता। उन्हें बड़े व्यवसाय बड़े उद्योग से बचना चाहिये। दूसरों के धर्म पर निभर होने रहने की शक्ति तोड़ फेंकनी चाहिये। जहाँ छोटा उद्योग या अपने धर्म पर निभर उद्योग या व्यवसाय चलता है वहाँ सफ़रती हिंसा की गुजायश नहीं होती। अपने हाथ से धर्म करनेवाले व अपनी आवश्यकता—पूरक

वस्तुओं का स्वयं उत्पादन करनेवाले दूसरों की बुद्धिवश वृत्तिबल धनबल का शोषण से सहजता बच जाते हैं ।

जीवन निवाह के अनिवार्य मायनान माने जाते रहे हैं—(१) कृषि (२) वाणिज्य और (३) शिल्प । अन्न का उत्पादन वस्त्र का उत्पादन और उनका विनिमय । उत्पादन और विनिमय का आवश्यक कर्म है । इनके आधार पर ही श्रेष्ठियां बनीं—उत्पादक और विनिमयकर्ता उत्पादक उत्पादन करते और विनिमयकर्ता विनिमय के माध्यम से उत्पादकों की भिन्न भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करते । एक का उत्पादन से और दूसरे का विनिमयसे जीवन निवाह हो जाता । मृत्यु और विद्या-ज्ञान ये भी जीवन निवाह के सामान्य साधन थे । यह सब की स्थिति है जब मनुष्य में सभ्रह का भाव विकसित नहीं हुआ था । कच्चा जीवन निवाह का ही भाव था । ज्यों-ज्यों कृत्रिम आवश्यकताएँ बढ़ने लगीं, सुख-सुविधा विनाश व आनन्द या ऐश्वर्य आराम बढ़ने लगा त्यों त्यों सभ्रह बढ़ने लगा और अन्न की पद्धतियाँ शोषणपूर्ण बहुर बननी गईं । हिंसा प्रदान व भोग प्रदान काया-करण में पभा हुआ । यदि समाज अहिंसा प्रधान और रसायन प्रधान बनना चाहे तो उसे इन स्थितियों में परिवर्तन लाना ही होगा, कृत्रिम आवश्यकताएँ मिटानी होंगी सुख-सुविधा व विनाश के एकाधिकार को मिटाना होगा, सभ्रह को कम करना होगा और अन्न-पद्धति में से शोषण का भाग दूर फेंकना होगा । ऐसा क्रिये बिना मरुपी हिंसा से मुक्ति कहा ?

अणुकारी खेती भी करते हैं यंत्रागार और अध्यापन भी करते हैं इनमें से किसी के साथ सभ्रह और दूसरों के स्वत्वहरण की वृत्ति जुड़ जाती है वहीं सफ़ली हिंसा आ जाती है । अन्न पद्धति में शोषण का दोष स्वयं

नहीं आता वह सग्रह भोग और कृत्रिम आवश्यकता-वृद्धि की कारण परम्परा से आता है। अणुवत आन्दोलन के अन्त अर्थार्जन की पद्धति को दोषपूर्ण बनानेवाले कारणों का उन्मूलन किया चाहते हैं। उस दृष्टिसे कृत्रिम आवश्यकता नियन्त्रण, भोग नियन्त्रण और सग्रह नियन्त्रणके द्वारा अजन पद्धति का नियन्त्रण किया गया है।

### अमिक विकास की परिकल्पना

अणुवत आन्दोलन की तीन श्रेणियाँ हैं —(१) प्रवेशक अणुवती, (२) अणुवती और (३) विशिष्ट अणुवती। इनका आधार साधना का अमिक अभ्यास है। यस्मिन् अपनी वृत्तियों का परिमाजन करे—यह अन्त ग्रहण की दृष्टि है। एक ही वृत्ति के अनेक रूप और उसकी अभिव्यक्ति के अनेक माग होते हैं। वृत्ति का शोधन नहीं होता केवल रूप और मागका निरोध होता है जब वह मिटती नहीं रूपान्तरित व मार्गान्तरित हो जाती है। दुराद नहीं मिटती, उसके रूप और प्रगट हान का माग बदल जाता है। जैसा कि मैंने एक कविता में लिखा है —

दुरी दुराद होनी सबसे, दुरा कि वह सरकार।  
जो कि दुराद को देता है नित्य नया आकार ॥१॥  
पतझड़ होना फूल टूटत हड़ रहता है गुल।  
फिर से आत ही रहत हैं पत्र और फल फूल ॥२॥  
अन्तर का शोधन नहीं होता भर जाना है धाव।  
पीप दूसरा माग बनानी, सबका यहाँ सम्भाव ॥३॥  
नहीं धासनायें मिटनी हैं, होता कोरा त्याग।  
मार्गान्तर से बाहर आता अन्तर का अनुराग ॥४॥

करो धारणा नहीं प्रार्त्ता की सीमा प्रत्याहार ।

जुड़ जायेगा चित्त ध्येय से, होंगे तब श्रुतार ॥५॥

नहीं बने ही बने रहगे मन केवल क्षिर मार ।

करो न आँख भिचौनी उनसे व भ्रमूय उपहार ॥६॥

शांति आन्ति में नहीं मिलेगी, दूँदा सब आधार ।

परम तत्त्व है शान्ति साधना जो जीवन का सार ॥७॥

अशुक्ली का ध्येय प्रार्त्ता की भाषा में सीमित नहीं है । ध्येय है—  
जीवन की शान्ति । उसके साधन इतने ही नहीं हैं आगे और बहुत हैं ।  
पुराणों भशान्ति लानी हैं । व भी हानी ही नहीं हैं जिनका कि यहाँ  
निषेध हुआ है । वह तो साधना बिन्दु पर दृष्टि का केन्द्रित करने का  
प्रयत्न है । उससे तीन वग वस्तु स्थिति पर आधारित हैं । व्यक्तिकी असीम  
योग्यता या वस्तुत्व शान्ति में हम विश्वास है । उसका सुप्त मानस जागरण  
का उसके मिलने पर जाग उठता है । जागरण का मम किसी का लगना नीर  
किसी का छूटा हो सकता है । जागरण के बाद आत्म नियमन की बात  
आती है । वह भी किसी के लिये दीय प्रयत्न साथ होता है नीर किसीके  
लिये स्वयं प्रयत्न साथ । ये तीन धर्मियाँ इसी क्रम बिसाल के आधार पर  
निर्मित हुए हैं । व स्वयं से मध्यम और मध्यम से उत्कृष्ट की ओर गति  
है । विशिष्ट अशुक्ली का मार्ग आगे बढ़ना ही जाना है ।

प्रार्त्ता का निर्माण साथ ही कर्पना का आभासमान है । पहुँचना  
उसकी आत्मा तक है । आचार्यश्री गुरुजी के शब्दों में 'अशुक्ल-आन्दालन  
की विनाश कर्पना का आभास आन्दालन के ४९ प्रार्त्ता में निहित है ।  
पाँच अशुक्लता के ३१, तीस और चर्चा के १२ से ४३ वन अशुक्ली के



लिये हैं । विशिष्ट अणुग्रनी के लिये ६ मन इनके अनिवार्य हैं । अपेक्षा यह है कि प्रत्येक व्यक्ति विशिष्ट अणुग्रनी बने । वह न बन सके तो अणुग्रनी बने, वह भी न बन सके तो कम से कम प्रवेशक अणुग्रनी तो अवश्य बने । प्रवेशक को अणुग्रनी बनने और अणुग्रनी को विशिष्ट अणुग्रनी बनने के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये तथा क्रमशः शक्तियों की विशेष पवित्रता की ओर बढ़ना चाहिये ।'

— \* \* —

## शब्दावली नहीं, प्रतीकों की भावनाएँ गूढ़ हैं ।

मन सारे के सारे वैयक्तिक हाते हैं । धन सामाजिक होता है । एक की कमाई का लाभ अनेक को मिल जाता है । मन में वैसी बात नहीं है । एक व्यक्ति की मन साधना का लाभ दूसरों को नहीं मिलना । प्रासंगिक लाभ तो मिलता है । एक व्यक्ति अपनी मज्दूरी के लिये कोई भी बुरा काम नहीं करता, वह समाज की मज्दूरी में बिना कुछ किये अपना योग दे देता है । अनावश्यक सम्राट् नहीं करनेवाला दूसरों की आवश्यकता-पूर्ति का सहज भाव में निमित्त बन जाता है । यह प्रासंगिक लाभ की बात हुई । हमारा सात्विक मन के भौतिक लाभ से है । उसका प्रतिपादन नहीं होना । गान्धि उषी को मिलनी है जो मन के द्वारा अपनी शक्तियों का शोधन करना है । दूसरों को वह नहीं मिलनी । सगे सम्बन्धियों को भी उसका दाय भाग नहीं मिलना । प्रेरणा मिल सकती है निमित्त मिल सकता है पर पुद्गिमूक रूप का सम्बन्ध नहीं होता—यही उनका वैयक्तिक स्वरूप है । यह प्रतीकों के शुद्ध रूप की भीर्मासा हो गई । यहाँ भरा अभिप्राय दूसरा है । यहाँ उन्हीं प्रतीकों को 'वैयक्तिक' संज्ञा देती है जो मुख्यतया व्यक्ति की निजी स्थिति

को ही प्रभावित करनेवाली सुराई का नियन्त्रण करें। व्यक्ति के अलावा छोट या बड़े समूह को प्रभावित करनेवाली सुराई का नियन्त्रण करनेवाले मन 'सामूहिक' हो जाते हैं। शक्ति-शोधन की अपेक्षा दोनों प्रकार के मन एक रूप हैं। यह सत्ता भेद केवल प्रायोगिक परिणाम या दूसरों पर होनेवाले सहज परिणाम की अपेक्षा से है।

आन्दोलन के ४९ मनों में से दस मन का परिणाम मुख्यतः व्यक्ति पर ही होता है। इसलिये उन्हें वैयक्तिक कहा जा सकता है। २७ मन समाज की स्थिति को प्रभावित करते हैं इसलिये उन्हें सामाजिक मन कहा जा सकता है।

१७ मन राष्ट्रीय हैं और ६ मन अन्तर्राष्ट्रीय। इस गणना-पट्टक में मनों की संख्या ६० हो गई है। कई मन दमक मणि की स्थितिवाले या सवारी हैं। वे एक से अधिक क्षेत्र पर सीधा असर डालते हैं। इसलिये अनेक क्षेत्रों में उन्हें गिना गया है। मन-संख्या की वृद्धि का हेतु यही है।

वैयक्तिक	सामाजिक	राष्ट्रीय	अन्तर्राष्ट्रीय
११२	१११ ५११	१११	१११
४११	११२ ५१६	११३	२१८
४१२	१११ ६११	२१७	३१२
४१३	११६ ६१२	२१८	३१३
६११	२११ ६११	३१३	३१४
६११	२१२ ६१८	३१४	६१५
६१२	२१३ ६१९	३१६	
६१३	२१४ ६१९*	५११	

वैयक्तिक	सामाजिक	राष्ट्रिय
६१६	२१५ ६१११	५१२
६१८	२१६ ६११०	५१३
	३११	५१४
	३१२	६११
	३१४	६१२
	३१५	६१५
	४१४	६१०
	४१५	६१८
	५११	६१११

मनों का यह विभाजन स्थूल विचार से किया गया है। इनकी संशरण-शीलता बहुत सूत्र है इसलिये उसे किसी एक का साथ बाँधा नहीं जा सकता।

दूसरी बात—मनों का यह विभाजन सक्षिप्त रूप के अनुसार किया गया है। विनाद रूप के अनुसार मनों को विभिन्न क्षेत्र व कार्यों में बाँटा जा सकता है। जैसे—तीन मूल पारिवारिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले हैं। ३ मूल शिक्षा क्षेत्र से सम्बन्धित हैं, २ मूल चिकित्सा क्षेत्र से जुड़े हुए हैं। १० मनों का सम्बन्ध व्यवसाय व उद्योग से है। इसी प्रकार ५ मूल विवाह से २ मूल न्यायालय से ४ मूल खान-पान से २ मूल परिधान से २ मूल परम्पराओं से १ मूल पत्र से १ मूल घम-सम्प्रदायों से १ मूल पत्र पत्रिकाओं के प्रकाशन से १ मूल आतिथ्य से १ मूल निर्वाचन से, ५ मूल सामान्य व्यवहार से सम्बन्ध रखते हैं।

- १—पारिवारिक जीवन—११२, ११३, २१४ ।  
 २—शिक्षालय—११७क, ग, घ ।  
 ३—चिकित्सालय—२१७—क ५१४ ।  
 ४—व्यवसाय गृह—११६, २१९, २१५, २१६, २१७क, ख, ३१२, ३१३, ३१४, ६१८ ।  
 ५—विवाह-संस्था—२१४, २१५, ५१५, ५१६, ६१२ ।  
 ६—यात्रालय—२१२, २१३ ।  
 ७—छान पान गृह—११९, ६१२, ६१३, ११४ ।  
 ८—परिधान गृह—६१६, ६१७ ।  
 ९—परम्परा प्रवाह—६१९०, ६१९१ ।  
 १०—पत्र—६१९२ ।  
 ११—रम सम्प्रदाय—६१५ ।  
 १२—प्रकाशन व सम्पादन गृह—२१८ ।  
 १३—जातिवाद—११५ ।  
 १४—निर्वाचन पेट्टी—५१३ ।  
 १५—सामान्य व्यवहार—११४, २१५, ३१२, ३१६, ५१२ ।  
 १६—संस्था—२१४, ३१५ ।

### घन साधनाके प्रासंगिक छान

मनों की शब्दावली में गूढ़ता नहीं है । उनमें भावनाओं का दृष्टि । उनकी स्पष्ट रेखाओं को देखना जरूरी है । ११९ में सकलपूर्वक ध्यान नहीं करने का मत है । उद्देश्यहीन हिंसा, आवय क्रोध, लालच, अधिकार, अभिमान, कपट—की स्थिति में होनेवाली हिंसा मकपी हिंसा है । इसका पहला

एव शौक्रिया मनोवृत्ति से बनना है—शिकार खेलना, भँसों या दूसरे जानवरों के साथ लड़त हुए उड़ मारना ये और इस काटि व दूसरे काय जीवन के आवश्यक अंग नहीं होते केवल प्रकाश या मनोरंजनमात्र होते हैं। इसलिये अणुव्रती उनसे बचें। दूसरा रूप साम्राज्यवादी व संप्रदायी मनोवृत्ति जानीय और साम्प्रदायिक विद्वेष की मनोवृत्ति से बनना है—आक्रमण करना, आश लगाना, चढ़काना, विद्रोह फैलाना—एसी प्रवृत्तियाँ सक्ली हिंसा के ही रूप हैं। सक्पयूक्त ध्यान नहीं करना—इसका अर्थ न मारने तक ही सीमित नहीं है किन्तु हिंसा को उत्ताजना मिले वैसी प्रवृत्तियाँ न करना—यह भी ठसी भँ समझा हुआ है। इसलिये अणुव्रती एसी प्रवृत्तियाँ से दूर रहें। आक्रमण न करना—यह सामाजिक व राष्ट्रीय महत्व से भी भाग जाता है। इसका बहुत बड़ा महत्व अन्तर्राष्ट्रीय है। जिस पक्षशील ने अनेक राष्ट्रों को मैत्री के सुत्रम बाँधा है उसमें एक शील है—आक्रमण न करना। यह अणुव्रत भावना की बहुत बड़ी विषय है। साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का मूल हिंसा है नमा राजनीति के क्षेत्रों में अनाक्रमण की सधि का स्वर विश्वशांति के बिना ही बलवान बनना जा रहा है। लाभ और विद्रोपवस वैयक्तिक दा जानीय आक्रमण न हो वैसा विश्व जागरण भी अणुव्रत आन्दोलन का प्रमुख ध्येय है।

अनाक्रमण की शक्ति का लाभ है—गान्धि जानीय शान्ति, राष्ट्रीय गान्धि विश्व-शान्ति। अनाक्रमण मैत्री की पहली सञ्चि है। आक्रमण की शक्ति कूरता से बनती है। यह अनुचित न हो उसके लिये छाटी-छोटी बातों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। (१) कठोर वचन से बाँधना (२) अन्न बिछड़ करना (३) दास देना (४) निष्पलायक पीटना

## आर्थिक बोझ से अनेतिकता की ओर

सामाजिक परम्परा जितनी जटिल होती है, अथ का बोझ जितना अधिक होता है, उतनी ही कठिनाइयाँ जीवन में भर आती हैं। अनैतिकता यून में लालसा मुख्य कारण है। परिस्थितियों से वह उत्पन्न होती है। ये सामाजिक धारणाओं या मान्यताओं से निर्मित होती हैं। सामाजिक धारणाओं को बदले बिना परिस्थितियाँ नहीं बदलती। परिस्थितियों के बदल बिना लालसा की उमता नहीं मिटती। लालसा की समाप्ति रहत हुए अनैतिकता का अन्त नहीं होना। समाज के रीति रिवाज और परम्परायें बड़ी खर्चीली होती हैं। तब उद्योगियों धन कमाने की पान प्रगति बन आती है। इसलिये अनैतिकता को उखाड़ फेंकने के लिये सामाजिक धारणाओं को बदलना आवश्यक है। ये बदलती हैं तब अथ समाज की वृत्ति अपने-आप निर्धन बन जाती है।

दहेज गुरु भाग विवाह भोजन कन्या-पर विद्वय आदि परम्परायें हट हो चुकी हैं परम्परा का जम कभी किसी विद्वान प्राण में नहीं है फिर वह पान पकती है। आदिकाल में इच्छा प्राण हानी





हैं। अब गौरव की भावना जहाँ है, वहाँ अनीति का स्रोत नहीं सूखता।

अधिक खाना, अधिक माना सं खाना, अधिक वस्तुएं खाना, आवश्यकता की पूर्ति नहीं है। यह भोग वृत्ति का उपग्रह है।

दूसरों को सुलभ न हो वैसे घर बनाना, वैसे वस्त्र पहनना, वैसी वस्तुएं खाना, वैसी वस्तुओं का उपयोग करना—बड़प्पन की मायना है, दूसरों से काम करवाने की वृत्ति में आलस्य और बड़प्पन की मायना है। इन दोनों के बीज छिपे हुए हैं। इन सबकी पूर्ति का हेतु अधिक समृद्ध है। अधिक समृद्ध का हेतु अनैतिकता है। उससे बचने के लिये जीवन को अथ भार से दबा देनेवाली सामाजिक मायना, बड़प्पन की मान्यता, भोग वृत्ति और परावलम्बन से किनारा सेना होगा।

अणुजन-आन्दोलन जीवन का समय-दर्शन है। जीवन चलाने की जो प्रक्रियाएँ हैं उनमें अमयम की मात्रा का सरलतम भाव हो सकता है हिंसा और परिग्रह की कभी बेसी हा सकती है। समय की ओर जाने की दुरुभता या सुलभता हो सकती है, आसक्ति की न्यूनाधिकता हो सकती है पर उनमें स्वयम्भूत सदमशीलता या स्वप्न सयममयता नहीं होती है। अणुजन स्वयम्भूत मयम है। इसलिए यह जीवन चलाने की प्रक्रिया नहीं है यह जीवन को सयम करने की साधना है। जीवन निर्बाह की दिशा बड़ी हिंसा से अथ हिंसा बहु परिग्रह से अथ परिग्रह, अनि आसक्ति से अथ आसक्ति की ओर चल्ती है। यह समय प्राप्ति की सुलभता का हेतु है। जीवन प्रक्रिया को सगु बनाये बिना समय जाना नहीं और आ जाये वह टिकता नहीं। इसलिए अणुजनी जीवन निर्बाह की प्रक्रिया को भारी बनाये नहीं रख सकता।

